सार्वदेशिक साप्ताहिक विशेषांक-१६

वैदिक सिद्धान्त

महर्षि दयानन्द सरस्वती

प्रस्तुतकर्ता- कुमारी मीरा आर्या, आर्य समाज चौक, लखनऊ-३

समर्पण

पूज्यवर गुरुदेव-
श्री महात्मा हंसराज जी
की
पुण्य स्मृति में

पूज्य गुरुदेव,

आप मेरे धर्मगुरु थे। आपने अपने पवित्र हाथों से यज्ञोपवीत देकर मुझे द्विज बनाया और अपना धर्म पुत्र बनाने का सौभाग्य प्रदान किया। जो कुछ मैंने श्रीचरणों में बैठकर उपलब्ध किया, उसके लिये आजन्म आभारी रहूंगा। मेरी देर से इच्छा थी कि वैदिक-सिद्धान्तों को सरल रूप में जनता, विशेषकर विद्यार्थियों के लिये उपस्थित करूं। मैंने यह प्रयत्न किया है, कह नहीं सकता कहां तक इसमें सफल मनोरथ हुआ हूं, तो भी जो कुछ यह तुच्छ भेंट है, इसे आपकी पवित्र स्मृति में परम-श्रद्धापूर्ण हृदय से समर्पण करता हूं आशा है आपकी मुक्त आत्मा इसे सहर्ष स्वीकार करके मुझे कुछ आन्तरिक सन्तोष प्रदान करेगी।

चरणानुरागी—राम प्रसाद

प्रस्तुतकर्ता- **सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,**
महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-१ मू० ५०पै.

❀ ओ३म् ❀

आचार्य देवो भव — ज्ञान देवो भव

सार्वदेशिक साप्ताहिक

वैदिक सिद्धान्त विशेषांक

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,
महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-१

दूरभाष—२७४७७१
वर्ष ३ — अंक ३७

सम्पादकः—
सभा-मन्त्री
[illegible]मगोपाल शालवाले
संसद् सदस्य

[illegible] सम्पादकः—
[illegible]ाथ प्रसाद पाठक

[illegible]ाश्विन पूर्णिमा
२०२५ विक्रमी

द्वितीयवार
दयानन्दाब्द १४४
[illegible] अक्तूबर रविवार
१९६८

[वा]र्षिक—सात रुपये
इस अंक का ५० पैसे

वेदोपदेश

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

यजुर्वेद अ० ३२-११

संस्कृतभावार्थ—

हे मनुष्याः ! यूयं धर्माचरणवेदयोगाभ्याससत्संगादिभिः कर्मभिः शरीरपुष्टिमात्मान्तःकरणशुद्धिं च संपाद्य सर्वत्राभिव्याप्तं परमात्मानं लब्ध्वा सुखिनो भवत॥

आर्यभाषा भावार्थ :—

हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्म के आचरण, वेद और योग के अभ्यास तथा सत्संग आदि कर्मों से शरीर की पुष्टि और आत्मा तथा अन्तःकरण की शुद्धि को सम्पादन कर सर्वत्र अभिव्याप्त परमात्मा को प्राप्त हो के सुखी होओ॥ —महर्षि दयानन्द सरस्वती

सम्पादकीय

यह विशेषांक

पाठकों के हाथ में यह वैदिक सिद्धांत अंक जा रहा है। सार्वदेशिक साप्ताहिक की यह परम्परा रही है कि जीवनोपयोगी विचार से परिपूर्ण और वैदिक धर्म के सिद्धान्तों से ओतप्रोत साहित्य कम से कम मूल्य में पाठकों तक पहुँचाया जाए। इस विशेषांक में भी उसी परम्परा का पालन किया गया है।

हमारे विशेषांकों का जनता ने जिस तत्परता के साथ स्वागत किया है, उसी तत्परता के साथ इस विशेषांक का भी स्वागत होगा, इसका हमें पूर्ण विश्वास है। इस विशेषांक के लिए भी, अन्य विशेषांकों की तरह, हमारे पास इसके प्रकाशित होने से पूर्व ही हजारों की संख्या में आर्डर आ चुके थे। इसे प्रकाशित अवस्था में देखकर और भी आर्डर आयेंगे, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु हमें भय है कि हम नए आर्डर भेजने वाले सब लोगों की मांग पूरी कर सकेंगे या नहीं, क्योंकि कागज और छपाई इत्यादि की मंहगाई के कारण, जितने आर्डर पहले प्राप्त हो जाते हैं उन्हीं के अनुसार निश्चित संख्या में अङ्क छपवाया जाता है। पाठकों से पहले आर्डर मंगाने का प्रयोजन भी यही है। इसलिए नए आर्डर भेजने वालों और सो-सो कर जागने वालों में से कुछ लोगों को निराश होना पड़े तो हम उनसे अग्रिम क्षमा मांग लेते हैं।

यह इसलिए भी करना आवश्यक है कि जिस प्रकार 'विद्यार्थी जीवन रहस्य' विशेषांक समस्त विद्यार्थी जगत् के लिए उपयोगी था और अनेक समर्थ लोगों ने काफी संख्या में उस विशेषांक की प्रतियां मंगवाकर स्कूलों और कालेजों में वितरित की थीं, वैसी ही प्रेरणा इस अङ्क के बारे में भी पैदा होना स्वाभाविक है। पुरानी पीढ़ी के आर्य नेता, देशभक्त लाला लाजपतराय के साथी, श्रद्धेय श्री महात्मा हंसराज जी के शिष्य एवं "वन्देमातरम् लाहौर" के यशस्वी सम्पादक श्री लाला रामप्रसाद जी बी० ए० द्वारा लिखित इस विशेषांक की विशेषता यह है कि यह केवल विद्यार्थियों के लिए नहीं, प्रत्युत आर्य-समाज के सिद्धान्तों के प्रति जिज्ञासा प्रकट करने वाले जन-साधारण के लिए तो उपयोगी है ही, उन आर्यसमाजियों के लिए भी उपयोगी है जो समयाभाव से विभिन्न धर्मग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकते और स्वयं ही अपने सिद्धान्तों से अनभिज्ञ बने रहते हैं। उन्हें इस एक अङ्क के पढ़ने से ही गागर में सागर की तरह, सभी सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय हो जाएगा।

धर्म की कसौटी

इस समय संसार में नाना प्रकार के मत-मतान्तरों की कमी नहीं है। प्रतिदिन नए-नए गुरु और उनके नए-नए चेले भी बनते देखे जा सकते हैं। भारत की भूमि तो जैसे नए गुरुडम और नए-नए सम्प्रदायों के लिए खास तौर से अधिक उपजाऊ है।

जब तक मानव में बुद्धि का समावेश रहेगा, तब तक विचार भेद तो सदा बना रहेगा, किन्तु अच्छाई और बुराई के सम्बन्ध में मतभेद की गुंजायश अधिक नहीं है। सच तो

यह है कि धर्म भी उसी तत्त्व का नाम है जिस पर स्थान और काल के भेद से प्रभाव नहीं पड़ता।

जिस प्रकार दो और दो चार होते हैं, यह गणित का सिद्धान्त है और यह सार्वत्रिक भी है और शाश्वत भी, उसी प्रकार असली धर्म भी वही है जो सार्वदेशिक भी हो और सार्वकालिक भी। इसी का नाम वैदिक धर्म है, यही एक-मात्र मानव धर्म है और समस्त संसार के लिए यही धर्म उपयोगी है।

वेद की दृष्टि में मानव मात्र समान हैं। 'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः' कहकर मानव जाति को वेद ने 'अमृत पुत्र' की सञ्ज्ञा दी है। संसार के समस्त मानव अमृत स्वरूप, सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वशक्तिमान्, अजर, अमर, नित्य,शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं। एक पिता की सन्तान होने के नाते से सब मानव परस्पर भाई-भाई हैं। इसीलिए वेद ने भूगोल और इतिहास की समस्त सीमाओं को लांघ कर मानव-मात्र को एक ईकाई के रूप में सम्बोधित किया है।

वेद का धर्म केवल भारत के लिए नहीं, केवल यूरोप के लिए या संसार के किसी विशेष भू-खण्ड के लिए नहीं, वह तो सभी देशों, सभी कालों और सभी जातियों के लिए है। अलबत्ता उस धर्म का शुद्ध स्वरूप क्या है, यह पहचानना आवश्यक है। धर्म के उस शुद्ध स्वरूप को हृदयंगम करने में यह विशपाक सहायक होगा।

धर्म की समीचीन परिभाषा यह है:—

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

जिस कार्य से इस लोक में अभ्युदय प्राप्त हो और

परलोक में निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो, उसी का नाम धर्म है। इस कसौटी के अनुसार यदि कोई विचारधारा केवल सांसारिक अभ्युदय की बात करती हो—जैसी कि आजकल की विज्ञान-प्रवण भौतिकवादी सभ्यता को और तथाकथित द्वन्द्वात्मक समाजवाद की प्रवृत्ति है तो वह धर्म नहीं कहला सकती। इसी प्रकार यदि कोई दार्शनिक विचारधारा को असार बताकर इहलोक में अपमानित और पददलित एवं दीन-हीन जीवन बिताने का उपदेश देती हो तथा परलोक के सब्जबाग दिखाकर केवल मोक्ष प्राप्ति का उपदेश देती हो जैसी कि वेदान्तियों या बौद्धों और जैनियों की प्रवृत्ति है, तो वह भी मानव जाति के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकती।

'सेक्युलर' शब्द का अर्थ

इसी स्थान पर यदि 'सेक्युलर' शब्द पर भी विचार कर लिया जाए तो अनुचित न होगा। आजकल इस शब्द का अर्थ 'धर्म-निरपेक्ष' किया जाता है। परन्तु इसका शब्दकोश-वर्णित शुद्ध अर्थ है—'सांसारिक' (Worldly)। वास्तव में राजनीति शास्त्र में 'थियोकेटिक स्टेट' (धार्मिक राज्य) से जो अर्थ लिया जाता था, उसके विरुद्ध 'सेक्युलर स्टेट (धर्मनिरपेक्ष राज्य] शब्द का व्यवहार हुआ। इस दृष्टि से सेक्युलर शब्द का सही अर्थ है – 'इहलोक से सम्बन्धित' (अर्थात् परलोक के प्रति सर्वथा उदासीन) इस प्रकार इस शब्द का सही अनुवाद करना हो तो वह होगा – 'लोकायतिक'। संस्कृतज्ञों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि संस्कृत वाङ्मय में लोकायतिक शब्द चार्वाक का पर्यायवाची माना गया है, क्योंकि चार्वाक भी परलोक या पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते, वे केवल इसी लोक को सत्य मानते हैं। यों शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से 'सेक्युलर स्टेट'

हमारा आदर्श नहीं हो सकता, न ही वह धर्म संगत है, क्योंकि उसमें धर्म के अनिवार्य अङ्ग—निःश्रेयस—की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है। प्रसंगोपात्त यह संक्षिप्त निर्देश मात्र पर्याप्त होगा।

कर्तव्य का उपदेश

धर्म का मुख्य सार यह है कि वह निम्न तथ्यों पर प्रकाश डाले कि:—( ) मनुष्य का अपने निर्माता परमपिता परमात्मा के प्रति क्या कर्तव्य है; (२) मनुष्यों का अन्य मनुष्यों के प्रति, जो उसके भ्रातृ समान हैं, क्या कर्तव्य है, और (३) मनुष्य का स्वयं अपने प्रति क्या कर्तव्य है। इस प्रकार कर्तव्यों का उपदेश ही धर्मग्रन्थों का उद्देश्य होता है।

जहां तक सृष्टि रचना की प्रक्रिया (Cosmology) के वर्णन का सम्बन्ध है, प्रायः विभिन्न धर्मग्रन्थों में उसका भी परिचय मिलता है। परन्तु वह विशुद्ध विज्ञान का प्रश्न है। और आश्चर्य की बात यह है कि ज्यों ज्यों मानव जाति विज्ञान में उन्नति करती जा रही है त्यों त्यों सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में वेद का वर्णन सत्य प्रमाणित होता जा रहा है और अन्य मत-मतान्तरों के धर्मग्रन्थों का वर्णन असत्य प्रमाणित होता जा रहा है। उदाहरण के लिए, वेद का सिद्धान्त है कि वर्तमान सृष्टि को बने लगभग दो अरब वर्ष हो चुके हैं। आज विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के गम्भीर अध्ययन से वैज्ञानिक लोग इसी निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं और कुरान और बाइबिल द्वारा वर्णित सृष्टि की ६००० वर्ष की आयु वाली बात सर्वथा असत्य प्रमाणित हो चुकी है।

इस प्रकार सृष्टिविद्या का वैदिक सिद्धान्त तो सर्वथा विज्ञान-संगत है ही, जहां तक परमात्मा के प्रति मानव के प्रति

और स्वयं अपने प्रति व्यवहार का प्रश्न है, वह भी जितना सुन्दर, उत्कृष्ट और समीचीन ढंग से वेद में प्रतिपादित है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं।

स्मृति का स्थान

परन्तु यहां एक शंका हो सकती है। वह यह कि देश और काल के अनुसार यदि मनुष्य को अपने व्यवहार में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो तो उसकी संगति कहां से ग्रहण की जाए? जहां तक सामाजिक व्यवहार का प्रश्न है, वह देश-देश और जाति-जाति में भिन्न है। परन्तु देश और काल के अनुसार इस प्रकार परिवर्तित होने वाला सामाजिक व्यवहार शाश्वत धर्म का अंग नहीं होता, क्योंकि वह त्रिकालाबाधित नहीं है, उसमें परिवर्तन हो सकता है। स्मृतियों का निर्माण इसीलिए हुआ था। स्मृतियां देश और काल के अनुसार आचार-व्यवहार का निर्देश करती हैं। हमारी स्मृतियां हमारे आचार शास्त्र हैं। परन्तु उनमें भी जब शाश्वत धर्म के तत्व की खोज करनी होगी, तब उसका आधार केवल वेद होगा। इसलिए सार रूप से यह कहा जा सकता है कि स्मृतियों का जो निर्देश वेद के अनुकूल और अविरुद्ध हो, वही धर्म का अंग है। धर्म के लिए परम प्रकाश केवल वेद है और स्मृति, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ, रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि इन सब में जहां कहीं परस्पर मतभेद दिखाई दे तो उसका समाधान केवल वेद के आधार पर ही किया जाए।

आर्य समाज क्यों

ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज के नाम से किसी नए सम्प्रदाय या मत का प्रवर्तन नहीं किया, किन्तु ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त प्राचीन ऋषि-महर्षि जिसे धर्म मानते

महर्षि ने कहा था—

विदेशियों का आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचारादि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है। आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का तो सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है, न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा अथवा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे स्वदेश-विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग पर आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख उठा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

आए, उसी का प्रतिपादन किया है। कालक्रम से उस पर जो आवरण पड़ गया था, ऋषि ने अपने सबल हाथों से उसे हटा दिया और शाश्वत, सत्य-सनातन वैदिक धर्म की पुनः दुन्दुभि बजाने के लिए और वैदिक धर्म के वास्तविक सिद्धांतों के अनुरूप अपना जीवन ढालने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की। यही आर्यसमाज की उपयोगिता है।

इस भूमिका के साथ, पाठकगण, इस विशेषांक का पारायण करिए और वैदिक सिद्धान्तों की उज्ज्वल ज्योति से अपने मन-मन्दिर को आलोकित कीजिए। स्वयं आर्य बनिए और संसार को आर्य बनाने का प्रण कीजिए।

॥ ओ३म् ॥

वैदिक सिद्धान्त

ईश्वर विषय

प्रश्न—यह लोग कहते तो हैं कि ईश्वर है, परन्तु दिखाई नहीं देता, तब कैसे माना जाय कि कोई ईश्वर है ?

उत्तर—ऐसा भी तो होता है कि हमें पदार्थ दिखाई नहीं देते, फिर भी हम उनके अस्तित्व पर विश्वास रखते हैं। जैसेः—

(क) अति निकट होने से, जैसे आंख में सुरमा होता अवश्य है पर दिखाई नहीं देता।

(ख) अति दूर होने से, जैसे बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ पक्षी अथवा पतंग।

(ग) सूर्य के प्रकाश से दबने के कारण दिन के समय तारे।

(घ) परदा सामने आने के कारण जैसे दीवार के पीछे खड़ा मनुष्य, अथवा कलकत्ता, बम्बई आदि नगर।

(च) दो समान चीजों के मिलने से जैसे दूध में पानी।

(छ) आंखों के जाते रहने से।

प्रश्न—फिर हम कैसे जानें कि ईश्वर है ?

उत्तर—पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि पदार्थ जाने कैसे जाते हैं। हम संसार में किसी पदार्थ को, जैसा कि वह है, पूर्ण रूप से नहीं जान सकते। केवल उसके कुछ गुणों को जान सकते हैं और जितना-जितना उसके गुणों का ज्ञान होता जाता है उतना ही अधिक हम उस चीज को जानते हैं। परन्तु पूर्णतया हम फिर भी उसको नहीं जान सकते। परमात्मा की बात तो रही दूर की, गुलाब के एक पत्ते

का अथवा फूल की एक पंखड़ी का भी पूर्ण रूप से जानना कठिन है। अतः हम परमात्मा के भी गुण ही जान सकते हैं और जितना उन्हें अधिक जानते हैं उतना ही परमात्मा का साक्षात् होता है।

प्रश्न—हम परमात्मा का उसके गुणों में किस तरह साक्षात् कर सकते हैं ?

उत्तर—उनकी बनाई हुई सृष्टि को देखकर। सृष्टि की अद्भुत रचना तथा इसके सुप्रबन्ध को देखकर केवल इतना ही अनुमान हो सकता है कि इसका बनाने वाला कोई है, बल्कि यह भी अनुमान हो सकता है कि वह बड़ा शक्तिशाली और ज्ञानवान् है। जिस प्रकार हम एक बड़े ऐञ्जन को देखकर अनुमान कर लेते हैं कि इसके बनाने वाले को किन-किन विद्याओं का ज्ञान होगा, इसी प्रकार परमात्मा की सृष्टि को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि वह तेज का देने वाला, दया तथा न्याय का स्रोत, शक्ति का पुञ्ज, सृष्टि रचना में प्रवीण और उसके संचालन में समर्थ और निपुण है। उस तरह हम जितना परमात्मा के गुणों का चिन्तन करेंगे उतना ही उनके स्वरूप का साक्षात् होगा। परन्तु इसका पूर्णरूप से जानना कठिन है क्योंकि परमात्मा अनन्त है और जीव परिमित शक्ति वाला है। इसलिये उपनिषत्कार कहते हैं कि जो यह कहता है कि मैंने परमात्मा को पूर्णरूप से जान लिया है वह मिथ्यावादी है। इसी तरह जो इस विस्तृत जगत् को देखकर भी यह कहता है कि मैं इसके बनाने वाले को बिल्कुल नहीं जानता वह भी मिथ्या प्रलाप ही करता है।

परमात्मा के दो रूप कहे गये हैं एक शबल और दूसरा शुद्ध।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप—जो सारे तत्त्वों से व्याप्त ब्रह्म का स्वरूप है वह "शुद्ध" है।

ब्रह्म का शबल रूप—जो ब्रह्म का स्वरूप इन तत्त्वों के साथ मिलकर भासता है वह शबलरूप है जैसे लाट में अग्नि का शुद्ध रूप और अङ्गारे में शबल रूप है।

ब्रह्म सारी सृष्टि में रमा हुआ है। इसका जीवन बनकर इसको धारे हुए है। इसी से अग्नि जलती है। इसी से सूर्य चमकता है सूर्य का वास्तविक तेज वही है।

"उपलक्षण" से ब्रह्म का वर्णन—जहां किसी बाह्य पदार्थ के द्वारा उसके अन्तरात्मा पर दृष्टि ले जाना अभिप्रेत होता है उसको "उपलक्षण" कहते हैं।

ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप वर्णन करने की दो विधियाँ:—

'निषेध'—उन गुणों को लक्ष्य करके जो विद्यमान नहीं, परमात्मा का वर्णन "निषेध" कहलाता है! जैसे—बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं—'हे गार्गी! इसको अक्षय (न क्षय होने वाला) कहते हैं। वह न मोटा है न पतला, न लम्बा है न चौड़ा और न लाल है(अर्थात् इसका कोई रङ्ग नहीं)वह विना स्नेह के है, विना छाया के है, विना अन्धेरे के है। वह वायु नहीं, आकाश नहीं। वह असङ्ग है। वह रस, रूप, गन्ध से रहित है। उसके नेत्र नहीं,श्रोत्र नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं। उसके तेज (जठराग्नि) नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, परिमाण (नाप) नहीं। उसके कुछ अन्दर नहीं,'कुछ बाहर नहीं। वह न कुछ भोगता है, न कोई उसका भोग करता है। इसी प्रकार "नेति-नेति" शब्दों से अन्यत्र भी उसका वर्णन किया गया है।

'विधि' परन्तु उन गुणों को लक्ष्य करके जो ब्रह्म में हैं उसका वर्णन करना "विधि" कहलाता है, यथा :—

तच्छुभ्रं, ज्योतिषां ज्योतिः—वह शुभ्र है और ज्योतियों की ज्योति है।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—वह विज्ञान और आनन्द है।

कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूः—वह कवि है, मनीषी है, चारों ओर से घेरे हुए है और स्वयंभू है। ब्रह्म ही सारे फलों को देने वाला है। और वही सारी शक्तियों का भंडार है।

प्रश्न—परमात्मा कहां रहता है?

उत्तर—परमात्मा हर जगह मौजूद है। कोई ऐसा स्थान नहीं जहां वह न हो।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जाय, जैसा कि कोई-कोई लोग मानते हैं कि परमात्मा शरीरधारी और सातवें आसमान पर अथवा वैकुण्ठ में रहता है और वहां से फरिश्ते अथवा दूतों द्वारा संसार का प्रबन्ध करता है तो क्या हानि है ?

उत्तर —यदि परमात्मा को एकदेशीय और परिमित आकार वाला मान लिया जाय तो—

(क) परमात्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकता। इसलिये सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता।

(ख) शरीरधारी होने के कारण यह मानना पड़ेगा कि उसका उत्पन्न करने वाला कोई और है। शरीर सम्बन्धी सारी व्याधियों और परिवर्तनों को भी मानना पड़ेगा।

(ग) यदि यह कल्पना कर ली जाय कि परमात्मा ने अपना शरीर आप बना लिया, कोई अन्य इसे उत्पन्न करने वाला नहीं, तो इससे पहले की उसकी निराकार अवस्था माननी पड़ेगी।

प्रश्न—निराकार किस प्रकार सृष्टि की रचना कर सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता।

उत्तर – साकार किस प्रकार सृष्टि की रचना कर सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता।

प्रश्न—यह क्यों ?

उत्तर- क्योंकि साकार कभी सृष्टि नहीं बनासकता। यदि मान लिया जाय कि हमारी पृथ्वी, जो सारे संसार में एक बहुत छोटी-सी चीज है, साकार परमात्मा ने बनाई तो उसके कितने बड़े हाथ होने चाहियें, कितने बड़े औजार ? उसने मसाला कहां रक्खा होगा और स्वयं कहां बैठा होगा। फिर उन बड़े-बड़े हाथों से उन कीटाणुओं को कैसे बनाया होगा जो बड़ी-बड़ी अणुवीक्षणों (खुर्दबीनों) से ही दिखाई दे सकते हैं। इसलिये निराकार परमात्मा ही सृष्टि बना सकता है, चूंकि वह एक-एक अणु में

व्यापक है इस वास्ते वह इसे उठा सकता है, हिला सकता है, दूसरे के साथ मिला सकता है।

प्रश्न—परन्तु जब उसके हाथ, पैर नहीं तो वह हाथ पैरों का काम कैसे कर सकता है ?

उत्तर—परमात्मा हाथ-पैर न होने पर भी सारे काम कर लेता है। हमें हाथ की जरूरत उस समय पड़ती है जब हाथ से दूर किसी चीज को पकड़ना अथवा उठाना होता है। जब हमें अपना हाथ उठाना होता है तो क्या इसे दूसरे हाथ से उठाते हैं। अथवा सिर हिलाना होता है तो क्या हाथों से पकड़ कर इसे हिलाते हैं। चूंकि हाथ के और सिर के अन्दर इनको हिलाने की शक्ति है इस वास्ते दूसरे हाथ की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु अर्द्धांग अवस्था में शक्ति-हीन होने के कारण वह अंग स्वयं नहीं हिल सकते। चूंकि परमात्मा के लिये कोई स्थान अथवा पदार्थ अप्राप्त नहीं इसलिये इन्हें न हाथों की जरूरत है, और न आंखों की, न कानों की और न पैरों की।

प्रश्न—आप परमात्मा को सर्वशक्तिमान् मानते हैं या नहीं ?

उत्तर—मानते हैं। पर उस तरह नहीं जिस तरह तुम मानते हो। सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं कि परमात्मा वह बातें भी करने लगें जिनकी उनको जरूरत नहीं अथवा जो उनके गुण, कर्म, स्वभाव के प्रतिकूल हैं। बल्कि इसका अर्थ यह है कि परमात्मा को अपना काम करने के लिये किसी अन्य की सहायता की जरूरत नहीं। उनमें सारी शक्तियाँ हैं और ये शक्तियां पूर्णरूप में हैं। यदि यह कहो कि परमात्मा सब कुछ कर सकता है, तो हम आप से पूछेंगे कि क्या परमात्मा अपने बराबर या अपने से बड़ा दूसरा परमात्मा पैदा कर सकता है, अथवा वह चोरी करता है, शराब पीता है वा अन्य दुराचार करता है ? निश्चय है कि आप ऐसा नहीं मानेंगे। अभिप्राय यह है कि जो बात परमात्मा में हो नहीं सकती उसकी सत्ता कैसे मानी जाय ?

प्रश्न—परमात्मा को आप न्यायकारी भी मानते हैं और दयालु भी। यह कैसे?

उत्तर—इसमें तो कोई असम्भव बात नहीं। इन दोनों बातों से एक ही प्रयोजन सिद्ध होता है। दया का अर्थ यह नहीं कि किसी चोर अथवा डाकू को हाथ पैर जोड़ने पर छोड़ दिया जाय। इससे तो उनके साथ अन्याय होगा जिनके धन का उसने हरण किया है, अथवा जिनको मारा वा लूटा है। नाम-मात्र की दया अपराधी के लिये भी हानिकारक है, क्योंकि इससे पाप कर्म में इसकी प्रवृत्ति अधिक हो जायगी और फिर इसे अन्त में घोर दण्ड का भागी बनना पड़ेगा। जब कोई अध्यापक किसी छात्र को गाली निकालने अथवा अपना पाठ याद न करने पर मारता है, तो क्या वह इस पर न्याय के साथ दया नहीं करता? और माता जब अश्रु पूर्ण नेत्रों से अपने बालक की ताड़ना करती है तो क्या न्याय के साथ दया के भाव से उसका हृदय द्रवित नहीं होता? अतः क्या जगत्जननी जब हमें हमारे कर्मों का दण्ड देती है उसमें उसकी दया का मिश्रण नहीं होता? परमात्मा का इस इच्छा से कि उनके पुत्र सन्मार्ग पर चलकर सुख का उपभोग करें उनके लिए इतनी सुख की सामग्री का उत्पन्न करना क्या उनके दया भाव को नहीं दर्शाता? बाह्य-दण्ड भी जो न्याय पर निर्भर होता है यही करता है कि अपराधी को सत्य मार्ग से विचलित होकर दुःख के गढ़े में न गिरने दे। इन दोनों का अभिप्राय एक ही है।

प्रश्न—परमेश्वर एक है अथवा अनेक? योरप के विद्वान् कहते हैं कि प्राचीन आर्य भिन्न-भिन्न देवताओं को मानते थे। वे एक ईश्वर के उपासक न थे।

उत्तर—अब तो वे भी ऐसा नहीं कहते। शास्त्र कहते हैं कि परमात्मा एक है*, अद्वितीय है, अनुपम है अर्थात् न उन जैसा कोई दूसरा

---

*एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

है, और न किसी अन्य को उससे उपमा ही दी जा सकती है। देव के अर्थ दिव्यगुण वाले के हैं। इनमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि जड़ देवता और गुरु, पिता, राजा, विद्वान् आदि चेतन देवता आ जाते हैं×। जिन

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।
—श्वेताश्वतर उपनिषद् ६-११

अर्थ—एक देव सारे भूतों में छिपा हुआ, सर्वत्र व्यापक, सब जीवों का अन्तर्यामी है, कर्मों का अधिष्ठाता है, सब जीवों का आधार है, साक्षी चेतन है, केवल (अद्वितीय) है और निर्गुण है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते, न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते, नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते, स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्च न तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।
—अथर्ववेद १३।४॥

अर्थ—वह न दूसरा है, न तीसरा है, न चौथा कहलाता है। न पांचवां है, न छठा है, न ही सातवां कहलाता है, न आठवाँ है, न नवां है न ही दसवां कहलाता है। वह उस सब पर दृष्टि रखता है जो सांस लेता है और जो नहीं लेता है, वह शक्ति से परिपूर्ण है, वह एक है, एक है एक तत्व है, उसमें सारे देवता आकर एक हो जाते हैं।

द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः।
अथर्ववेद ४।१६।२॥

अर्थ—दो मनुष्य इकट्ठे बैठकर जो गुप्त मन्त्रणा करते हैं राजा वरुण (परमात्मा) उनमें तीसरे होकर उसको जानते हैं।

× इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः
अथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वायु, वरुण, अग्नि आदि को योरप के विद्वान् देवता बताते रहे हैं वे वास्तव में परमात्मा के ही भिन्न २ नाम हैं। अथवा उनकी भिन्न २ शक्तियों के प्रदर्शक हैं चूंकि सारे जड़ और चेतन देवता तथा सारी दिव्य शक्तियां परमात्मा में ही निवास करती हैं इसलिये इसे देवों का देव महादेव कहा जाता है।

हमने परमात्मा के स्वरूप को दिखाने के लिये इनके कुछ विवादास्पद गुणों का वर्णन किया है। परमात्मा के असंख्य गुण हैं, कुछ एक का वर्णन आगे आयेगा परन्तु जो परमात्मा का एक नाम सच्चिदानन्द (सत्—सदा एक रस रहने वाला, चित् अर्थात् चेतन और आनन्द अर्थात् दुःख रहित होता) है जो जीव और प्रकृति से भिन्न है वह संक्षेप में उनके वास्तविक स्वरूप को बताता है। "ओ३म्" परमात्मा का निज नाम है जिसमें सारे गुणों का समावेश आ जाता है।

ईश्वर पूजा

प्रश्न – क्या ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर देता है ?

उत्तर – नहीं।

प्रश्न – तो फिर सन्ध्या, प्रार्थना करने से क्या लाभ ?

उत्तर—सन्ध्या का यह अभिप्राय तो नहीं कि किसी के यहां चोरी कर ली और फिर गिड़गिड़ा कर क्षमा मांग ली –चलो बस छुट्टी हो गई। इससे तो परमात्मा के न्याय पर दोष लगेगा।

प्रश्न तो फिर सन्ध्या आदि से क्या लाभ ?

उत्तर—सन्ध्या के तीन भाग हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना।

एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति,
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

ऋग्वेद मंड० १, सूक्त १६४, मं० ४६

अर्थ—जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है उसी के इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा ये नाम हैं।

स्तुति—जब हम वेदादि मन्त्रों द्वारा परमात्मा के गुणों का वर्णन और चिन्तन करते हैं तो उनके गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म स्वभाव में सुधार करते हैं।

प्रार्थना—प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और ईश्वरीय सहाय मिलता है। प्रार्थना तभी सफल होती है जब उसके अनुकूल आचरण हो, परमात्मा सच्ची प्रार्थना को सुनते हैं, झूठे प्रलाप को नहीं। परमात्मा उसकी ही सहायता करते हैं जो अपनी सहायता आप करता है।

उपासना—उपासना से पारब्रह्म का सामीप्य और उसका साक्षात्कार होता है। उपासना का अर्थ पास बैठना है। जब एक साधक को परमात्मा का साक्षात् होता है तो उसको उपासना का फल मिलता है। उपासना का फल प्राप्त करने के लिये यम* नियमों का पालन और अष्टाङ्ग योग का साधन करना चाहिये। जिस प्रकार शीत में अग्नि के पास जाने से शीत दूर होकर आनन्द का भान होता है इसी प्रकार ईश्वर के साक्षात् होने पर मनुष्य के सारे क्लेश जाते रहते हैं।

निर्गुण सगुण विचार

पौरा०—पूजा निर्गुण ब्रह्म की करनी चाहिए अथवा सगुण की ?

आर्य—आपका सगुण और निर्गुण से क्या अभिप्राय है ?

पौराणिक—जब परमात्मा अवतार लेता है अर्थात् शरीरधारी बनता है तो उसे सगुण और जब-जब अपने निराकार रूप में होता है तो उसे निर्गुण कहते हैं।

आर्य क्या निर्गुण निराकार ब्रह्म में कोई गुण नहीं होते ? क्या वह उस समय सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द, दयालु, न्यायकारी, आदि गुणों से सम्पन्न नहीं होता ?

पौरा० होता है।

---

* १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८ समाधि।

आर्य—तो आपने सगुण निर्गुण का यह अर्थ क्यों किया ?

पौरा०—तो फिर इन शब्दों का क्या अर्थ होना चाहिए ?

आर्य—सगुण का अर्थ है गुण वाला। निर्गुण का अर्थ है कि जिसमें विशेष गुण न हों जैसे सगुण—सच्चिदानन्द, न्यायकारी, दयालु, सर्वज्ञ, कवि, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्ता। और निर्गुण—अजर, अमर, अनादि, अनूपम, निर्विकार, अजन्मा।

अवतार विषय

प्रश्न—जब हम परमात्मा को मनुष्य रूप में साक्षात् कर सकते हैं, उनकी सेवा शुश्रूषा से मन को शान्त और तृप्त कर सकते हैं, तो निराकार की पूजा से जो इतनी कठिन है क्या लाभ ? हम तो यह मानते हैं जैसा कि गीता में कहा है "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति···इत्यादि" कि भगवान् स्वयं साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश करने के लिए जन्म लेते हैं। सारा हिन्दूसमाज अवतारों को मानता है।

उत्तर—प्रथम तो यही बात ठीक नहीं कि अवतार साधुओं की रक्षा और दुष्टों का दलन करने के लिए हुए हैं। विष्णु के दस मुख्य अवतार माने जाते हैं:—

१. मत्स्य, २. कूर्म्म, ३. वराह, ४. नरसिंह, ५. वामन, ६. रामचन्द्र, ७. परशुराम, ८. कृष्ण, ९. बुद्ध, १०. कलकी। इनमें से बताइए कि मत्स्य, कूर्म्म, वराह, परशुराम, तथा बुद्ध ने किन साधुओं का परित्राण किया और किन दुष्टों का दलन किया। बुद्ध ने तो न केवल वेदों का ही विरोध किया बल्कि परमात्मा से भी उदासीनता प्रकट की। परशुराम ने सारे क्षत्रियों का संहार किया, रहे मत्स्य, कूर्म्म और वराह। ये तो पशु थे, इन्होंने करना ही क्या था।

प्रश्न—तो क्या आप ईश्वर-अवतार को बिलकुल ही नहीं मानते ? हम तो मानते हैं।

उत्तर--परन्तु आपका ऐसा मानना तो ठीक नहीं। देखिये इसमें कितने दोष आते हैं : —

१ यदि मान भी लिया जाय कि ईश्वर ने किसी शरीर-विशेष में अवतार धारण कर लिया तो इसका यह अर्थ होगा कि परमात्मा अन्य स्थानों पर नहीं रहा। फिर संसार की धारणा कैसे हो सकेगी। यह भी मानना पड़ेगा कि वह अपरिमित होने पर भी सुकड़ कर परिमित स्थान में आ गया। यह गुण तो भौतिक पदार्थों का ही हो सकता है।

२—एकदेशवर्ती होने के कारण न वह सर्वज्ञ हो सकता है न सर्वशक्तिमान्।

३—शरीर धारण करने से वह अजन्मा नहीं रह सकता बल्कि जन्म, मरण और नाड़ी नस के बन्धन में आ जाता है और इसका जीवन केवल साधारण मनुष्यों जैसा हो जाता है।

४ रामचन्द्र और परशुराम दोनों एक ही काल में हुए, बल्कि दोनों ने आमने-सामने होकर द्वन्द्वयुद्ध करना चाहा और दोनों में से किसी को पता नहीं चला कि यह भी परमात्मा है। इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि एक ही समय में परमात्मा ने दो अवतार धारण किये। इसलिये वह पूर्ण अवतार नहीं थे, हो अंशावतार माने जा सकते हैं, अर्थात् जिन व्यक्तियों में परमात्मा के अंशमात्र दिव्य गुण विशेष रूप से दिखाई देते हैं उन्हें अंशावतार कह सकते हैं, पूर्णावतार नहीं। परन्तु इस तरह तो सब ही महान् और आप्त पुरुषों को, बल्कि सभी बड़े-छोटों को अवतार मानना पड़ेगा। क्योंकि परमात्मा के गुण किसी न किसी अंश में सब में ही पाए जाते हैं। अतः अवतारवाद बुद्धिगम्य नहीं, सर्वथा असम्भव है।

मूर्तिपूजा

प्रश्न—यदि अवतार को न भी मानें तो भी हम परमात्मा की प्रतिमा स्थापित करके उसकी पूजा कर सकते हैं। इसमें आप को क्या आपत्ति हो सकती है ?

उत्तर—ईश्वर तो निराकार है उसकी मूर्ति हो ही नहीं सकती, फिर मूर्तिपूजा कैसी ? मूर्तियां तो राम, कृष्ण आदि की बनाई जाती हैं जिन्हें आप अवतार समझते हैं। परन्तु जब इनका अवतार होना ही सिद्ध नहीं हो सकता तो फिर उनकी मूर्तियों की पूजा भी निरर्थक हो जाती है। तो भी यदि इसमें देश का अहित न होता तो हम कुछ न कहते परन्तु मूर्तिपूजा ने तो देश को निर्धन, उत्साहहीन, विषयासक्त और पादाक्रांत कर दिया है।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—पूर्वकाल में सारे देश का बहुत सा धन प्रायः मन्दिरों में रहता था। राजे महाराजे, चांदी, सोना, हीरे, जवाहरात चढ़ाते थे। अपना निजी धन भी सुरक्षित समझकर वहां हीं रख देते थे। यही धन महमूद गजनवी को यहां लाया और इसी ने हमारी रमणियों को दो-दो रुपयों में गजनी के बाजारों में बिकवाया। धन तो इन मन्दिरों में जमाकर दिया परन्तु इसकी रक्षा का कोई उपाय न किया, मूर्तियों में सामर्थ्य पर ही भरोसा किये रहे।

२—भक्तों को अपने शौर्य और पराक्रम पर विश्वास नहीं रहा। मैदान में निकल कर लड़ने के स्थान में ये अपने देवता से ही सहायता मांगते रहे।

३ और जो कुछ इन मन्दिरों में होता है उसकी चर्चा करना ठीक नहीं। मन्दिरों के सम्बन्ध में अपने एक लेख में स्वर्गीय डाक्टर ऐनी बेसेंट ने कहा था, Can gods come down to places where women are not safe? अर्थात् क्या परमात्मा का ऐसी जगह निवास हो सकता है जहां स्त्रियां बच नहीं सकतीं !

४—करोड़ों रुपया जो देश के कल्याणार्थ खर्च होना चाहिये था, व्यर्थ नष्ट हो रहा है।

५—लोगों को सत्य परन्तु कठिन रास्ते से हटा कर सुगम, परन्तु आलस्य पूर्ण और हानिकारक मार्ग पर डाल दिया जाता है।

आर्य—परन्तु आप यह तो बताइये कि आप मूर्ति को किस प्रकार परमात्मा मान कर उसकी पूजा करना चाहते हैं।

पौरा०—हम मूर्ति को ईश्वर तो नहीं मानते। ध्यान के लिये केवल एक साधनमात्र मानते हैं। हम मूर्ति की पूजा नहीं करते वरन् ईश्वर की जो इसमें व्यापक है पूजा करते हैं। इसमें आपको क्या आपत्ति है कि हम मन की एकाग्रता के लिये एक मूर्ति को सामने रख लेते हैं। चिन्तन और आराधना तो ईश्वर की ही की जाती है?

आर्य—आपका यह कथन ठीक नहीं कि आप मूर्ति की पूजा नहीं करते बल्कि भगवान् की जो इसमें व्यापक है पूजा करते हैं। कारण यह है कि जब तक "प्राण प्रतिष्ठा" की रस्म नहीं हो लेती तब तक मूर्ति पूजा के योग्य नहीं समझी जाती। प्राण प्रतिष्ठा के पीछे यह माना जाता है कि इसमें परमात्मा का निवास हो गया है अथवा यह परमात्मा का स्वरूप बन गई है। यदि आप मूर्ति में व्यापक परमात्मा की पूजा करते हैं तो किसी भी चीज को सामने रखकर उसकी पूजा की जा सकती है। परन्तु मूर्ति की आरती करना, उसको नहलाना, सुलाना और भोग लगाना सिद्ध करता है कि पूजा मूर्ति की ही की जाती है। परन्तु यदि यह क्षण भर के लिये मान लें कि यह पूजा मन को एकाग्र करने के लिये की जाती है तो ठीक नहीं, क्योंकि मन के एकाग्र करने का यह अर्थ है कि हम मूर्ति के गुणों का चिन्तन करते हैं। यदि कोई कोयले के एक टुकड़े को सामने रखकर इसके द्वारा सफेदी अथवा ज्योति का चिन्तन करने लगे तो उसका सारा प्रयत्न निष्फल होगा। क्योंकि हम जब कोयले का ध्यान करेंगे तो सफेदी अथवा प्रकाश का ध्यान नहीं हो सकेगा और जब प्रकाश का ध्यान करेंगे तो कोयले का हमें स्मरण भी न रहेगा।

प्रश्न—यह मूर्तिपूजा अज्ञानियों के लिये है। कोई ऐसा स्थूल साधन होना चाहिये जिसके द्वारा मनुष्य परमात्मा का चिन्तन कर सके। देखो रेखागणित (Geometry) में बिन्दु (Point) का कोई

अस्तित्व नहीं होता और न रेखा (Line) की चौड़ाई। तो भी इनकी सहायता से हम रेखागणित के जटिल प्रश्नों को हल कर लेते हैं। इसी तरह मूर्तिपूजा के द्वारा ईश्वर-प्राप्ति हो जाती है।

उत्तर—यह उपमा ठीक नहीं। यदि कोई विद्यार्थी रेखागणित के प्रश्न को निकालता हुआ बिन्दु का एक बड़ा चक्र बना दे अथवा रेखा को बहुत चौड़ा कर दे तो अध्यापक रोक देगा और कहेगा कि इनको सूक्ष्म करो और इतना सूक्ष्म करो कि इनके अस्तित्व का बोध कल्पना-मात्र से ही हो सके। यह सूक्ष्मता में जितनी अधिक होगी उतना ही बिन्दु अथवा रेखा का ठीक रूप समझा जायगा। इसलिये जड़ वस्तुओं द्वारा परमात्मा का चिन्तन करने के लिये हमें उन चीजों का ध्यान करना चाहिये जिनमें ईश्वरीय गुण हों। जैसे सूर्य का ध्यान करके हम कह सकते हैं—"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।" हाथी, शेर आदि का ध्यान करके कह सकते हैं—"बलमसि बलं मयि धेहि" इत्यादि इसी को प्रतीक उपासना भी कहा गया है।

प्रश्न—परन्तु यह तो एक २ गुण का चिन्तन हुआ। परमात्मा के पूर्ण स्वरूप का कैसे चिन्तन हो?

उत्तर—इसके लिये परमात्मा के विराट् स्वरूप का चिंतन करना चाहिये। इस विराट् स्वरूप को उतना ही विशाल बनाया गया है जितना परमात्मा के स्वरूप का भौतिक संकल्प हो सकता है। कहा है—अन्तरिक्ष उसका सिर है, सूरज चांद आंखें हैं, अग्नि मुख है" इत्यादि—*परन्तु यह तो सृष्टि में परमात्मा को देखने की चेष्टा

---

*अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृत्ताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व-भूतान्तरात्मा। मुण्डकोपनिषद् २-१-४

अर्थ—इस परमात्मा का अग्नि मुख है, चन्द्र और सूर्य चक्षु हैं, दिशायें श्रोत्र हैं, विस्तृत ऋगादि वेद इसकी वाणी है। (ब्रह्मांडगत)वायु

करना है। असली साक्षात् तो वह है जब सारे भौतिक पदार्थों को छोड़कर परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन किया जाये।

जीवात्मा और प्रकृति

प्रश्न क्या परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु है ? बहुत से विद्वानों का यह मत है कि केवल एक ब्रह्म ही है और कुछ नहीं। आज कल यूरोप के विद्वान् भी इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि वास्तव में Electron ही एक वस्तु है। बाकी सब इसके रूपान्तर हैं।

उत्तर—परमात्मा के साथ दो और पदार्थ हैं जो प'मात्मा की ही तरह अनादि और अनन्त हैं। इनमें से एक का नाम जीव और दूसरे का प्रकृति है। यदि ये न हों तो संसार की रचना ही नहीं हो सकती। Electron के सिद्धान्त को मानने वाले भी यह मानते हैं कि इसमें बिजली के दोनों Poles होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ भी दो वस्तुओं की विद्यमानता मानी गई है एक बिजली जो Electron में व्यापक है और दूसरी वह चीज जिसमें बिजली व्यापक है। साथ ही साइंसदान कहते हैं कि Electron आगे विभक्त नहीं हो सकता परन्तु जब इसमें दोनों Poles मौजूद हैं तो इसमें अन्तरवर्ती स्थान भी मानना पड़ेगा जिससे यह भी मानना पड़ेगा कि यह Electron वैदिक प्रकृति के परमाणु से अधिक स्थूल है क्योंकि हम इसको अपनी कल्पना में विभक्त कर सकते हैं परन्तु परमाणु को नहीं कर सकते। इसके साथ ही फिर यह प्रश्न होगा कि Life (जीवन) कहां से और किस तरह आया। इसलिये केवल Electron मानने से इस समस्या का हल नहीं हो सकता।

प्रश्न - जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्दर के तार निकाल कर जाला

प्राण है, सारा जगत् इसका हृदय है पृथ्वी इसके पाद हैं निश्चय करके यह परमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा है।

तान लेती है उसी तरह ब्रह्म सृष्टि को अपने भीतर से उत्पन्न करता है और यह प्रलय के समय उसमें ही लीन हो जाती है।

उत्तर - यह उपमा भ्रममूलक है। इसमें आप तीन चीजों को मानते हैं। एक मकड़ी, दूसरी तार, तीसरी बाहर की खाली जगह जिसमें जाला तना जाता है। अतः यह उपमा ब्रह्म पर नहीं घट सकती क्योंकि यहां तो हम ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को मानते ही नहीं। परन्तु वास्तव में आप भी यहां तीन ही पदार्थों को मान रहे हैं। एक ब्रह्म, दूसरा संसार जो ब्रह्म से भिन्न है, परन्तु ब्रह्म से व्याप्त है तीसरा अन्तरिक्ष जिसमें निकाल कर ब्रह्म ने संसार को रक्खा। यदि सिवाए ब्रह्म के कोई अन्य वस्तु नहीं तो यह संसार कहां से आ गया। यदि केवल शुद्ध ब्रह्म को ही माना जाए तो किसी अन्य भाव का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

समाधान—यह तो ब्रह्म के साथ रहने वाली उसकी माया है, जिसके कारण संसार की उत्पत्ति होती है।

आर्य – आप माया किसे कहते हैं ?

पौरा० - माया अज्ञान को कहते हैं। अर्थात् जब ब्रह्म माया से आच्छादित हो जाता है तो वह अज्ञानवश अपने को जीव समझ कर स्वप्नवत् चीजों का अनुभव करता है।

आर्य—तो ब्रह्म पूर्ण ज्ञानवान् न हुआ वरन् अज्ञान से आच्छादित हो जाता है। आपने माया का अर्थ ठीक नहीं समझा।

पौरा० – तो माया का क्या अर्थ है ?

आर्य—उपनिषदों में प्रकृति को माया बताया गया है—"प्रकृतिं तु मायां विद्धि" गीता अध्याय ७ श्लोक १४ में भी यही कहा है कि—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।"

अर्थ—क्योंकि यह अलौकिक (अद्भुत) तीन गुणों (सत्व, रज, तम) वाली मेरी प्रकृति बड़ी दुरस्त है।

यदि हम माया का अर्थ प्रकृति ही लें तो फिर आपका कथन

भी ठीक हो जाता है क्योंकि जब प्रकृति सूक्ष्म अवस्था में होती है तो यह ब्रह्म से व्याप्त होती है और इसको स्थूल अर्थात् कार्य रूप में लाकर ही ब्रह्म इसे प्रकट करता है ?

प्रश्न— प्रकृति को किसने उत्पन्न किया ।

उत्तर—किसी ने नहीं । यह तो अनादि है, अर्थात् सदा से चली आती है । कभी यह कारण रूप में चली जाती है और अति सूक्ष्म हो जाती है, कभी समय आने पर फिर स्थूल रूप धारण कर लेती है । इसके रूपान्तर होते रहते हैं, परन्तु इसका अभाव कभी नहीं होता । यह सदा से चली आई है और सदा तक रहेगी । परन्तु प्रकृति जड़ है अर्थात् न इसमें ज्ञान है और न स्वयं क्रिया करने की शक्ति ।

प्रश्न—और जीव ?

उत्तर—जीव एक चेतन शक्ति है जो सारे प्राणियों में रह कर कर्म करता है और सुख-दुःख भोगता है । यह भी अनादि और अनन्त है ।

प्रश्न—तो आपके कथनानुसार तीन पदार्थ अनादि और अनन्त हैं ।

उत्तर—जी हां ।

प्रश्न—तो इनमें किन २ बातों में समानता है और किन २ में असमानता ? इसका क्या स्वरूप है ?

उत्तर ईश्वर और जीव चेतन हैं । प्रकृति—जड़ है ।

ईश्वर—सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है ।

जीव – अल्पज्ञ और परिमित शक्ति वाला है ।

ईश्वर - सत्-चित्-आनन्द है ।

जीव—सत् अर्थात् सदा रहने वाला है और चित् चेतन है । परन्तु सुख-दुःख को अनुभव करने वाला है ।

ईश्वर—अजन्मा है ।

जीव – शरीर धारण करता है ।

ईश्वर—विभु अर्थात् सर्वव्यापक है ।

जीव – अणु अर्थात् एक देशवर्ती है ।

ईश्वर – व्यापक है ।

जीव—व्याप्त है ।

ईश्वर – स्वामी है ।

जीव –सेवक है ।

प्रकृति अनादि और अनन्त गुणों में ईश्वर और जीव के समान है, परन्तु जड़ होने के कारण यह जीव और ईश्वर से भिन्न है ।

प्रश्न –इन तीन पदार्थों के मानने की क्या जरूरत है ?

उत्तर—क्योंकि इसके विना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती और सृष्टि के प्रबन्ध तथा इसकी रचना को देखकर ही हम इन तीनों वस्तुओं के मानने पर बाध्य होते हैं ।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जाय जैसा कि ईसाई और मुसलमान मानते हैं कि पहले अभाव था ? जब परमात्मा ने कहा, "हो जा," तभी सारा संसार बन गया ।

उत्तर—अभाव से भाव का होना युक्तिसंगत नहीं । अतः यही मानना ठीक है कि जीव तथा प्रकृति की सहायता से ईश्वर ने संसार को बनाया । किसी वस्तु के बनाने के लिये तीन कारणों का होना जरूरी होता है—एक निमित्त कारण, दूसरा उपादान कारण, तीसरा साधारण कारण—अर्थात् : –

१—निमित्त कारण—करने वाला ।

२—उपादान कारण—वह सामग्री जिससे कोई वस्तु बनाई जाय ।

३—साधारण कारण—वह औजार जिससे चीज बनाई जाय ।

जैसे घड़ा बनाने के लिये कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपापान कारण, और चाक साधारण कारण है ।

प्रश्न - तो सृष्टि की रचना कैसे हुई, यह भी जरा अच्छी तरह बताएं ?

उत्तर—हम अभी बता चुके हैं कि परमात्मा ने जीव और प्रकृति की सहायता से सृष्टि को रचा। अब इसके क्रम का वर्णन करते हैं। प्रलय के पीछे जब सृष्टि का आरम्भ होता है तो प्रकृति में, जो अति सूक्ष्म अवस्था में होती है, हलचल उत्पन्न होती है। जो तत्व सबसे पहले व्यक्त (नमूदार) होता है उसका लाम सांख्यदर्शनकार कपिलमुनि ने "महत्तत्व" दिया है। यह तत्त्व हमारे देह में बुद्धि रूप से स्थित है। इसका काम है निश्चय करना।

२—अहंकार—फिर महत् में तबदीली होने से जो तत्त्व बनता है उसका नाम अहंकार है अर्थात् "मैं हूं" "यह मेरा है" ऐसा भाव उत्पत्न होता है।

३—पंच तन्मात्रा - अहंकार से पंच तन्मात्रा अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द बने हैं।

४—फिर इनसे पञ्च भूत अर्थात् रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथ्वी, वायु से स्पर्श और शब्द से आकाश उत्पन्न हुए। इन पञ्च भूतों के उपर्युक्त अपने २ मुख्य गुण हैं परन्तु इनमें दूसरों के गुण भी पाए जाते हैं। जैसे—पृथ्वी में गन्ध, रस, रूप और स्पर्श चार गुण हैं।

जल में—रस, रूप, स्पर्श तीन गुण।

अग्नि में—रूप और स्पर्श दो गुण हैं।

वायु में केवल एक स्पर्श है और—

आकाश में—केवल एक "शब्द" है।

५—कर्म्मेन्द्रिय फिर पांच कर्म इन्द्रियां।

अर्थात्—१ हाथ, २ पांव, ३ जिह्वा, ४-५ मल और मूत्र त्याग करने के 'इन्द्रिय'।

६—ज्ञानेन्द्रिय—कर्म इन्द्रियों के अतिरिक्त पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं

अर्थात्, आंख, नाक, कान, जिह्वा (रसना), त्वचा, मन, बुद्धि और अहंकार।
यह अन्तिम तीनों अन्तःकरण कहलाते हैं।

प्रश्न--यह सृष्टि कब से बनी ?

उत्तर--इसको बने हुए १९७२९४९०३६ वर्ष हो चुके हैं, परन्तु यह प्रवाह से अनादि है।

प्रश्न—प्रवाह से अनादि का क्या अर्थ है ?

उत्तर - इसका अर्थ यह है कि सृष्टि सदा से बनती और बिगड़ती आई है। इस सृष्टि से पहले असंख्य सृष्टियां हो चुकी हैं और होती रहेंगी।

प्रश्न - परन्तु ईसाई लोग तो मानते हैं कि इस सृष्टि को बने हुए कोई छः हजार वर्ष हुए है और इससे पूर्व कोई सृष्टि न थी और कई एक का यह भी सिद्धान्त है कि यही सृष्टि सदा से चली आती है। और सदा तक रहेगी।

उत्तर—इसमें सन्देह नहीं कि पहले न केवल ईसाइयों का बल्कि योरप के विद्वानों का भी यही ख्याल था। परन्तु अब तो भू-गर्भ विद्या (Geology) के अनुसन्धानों ने तथा अन्य अनेक अनुसन्धानों ने पृथ्वी की आयु को दो अरब वर्ष तक पहुंचा दिया है, परन्तु यह सिद्धान्त तो कभी माना नहीं जा सकता कि यह सृष्टि सदा से इसी तरह थी और इसी तरह बनी रहेगी, क्योंकि जो चीज तत्त्वों से बनी हुई है उसका बिगड़ना अनिवार्य है। रहा ईसाइयों का यह विश्वास कि इससे पहले कोई सृष्टि नहीं थी, यह ठीक नहीं है। इससे तो परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं रहता।

प्रश्न - वह कैसे ?

उत्तर—देखिये, हम परमात्मा को सृष्टिकर्ता कहते हैं क्योंकि उन्होंने सृष्टि उत्पन्न की, परन्तु जब इस सृष्टि से पूर्व उन्होंने कोई सृष्टि ही उत्पन्न नहीं की थी, तो वे सृष्टिकर्त्ता कैसे कहला सकते थे।

इसी तरह दयालु, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि सभी विशेषण जाते रहते हैं और परमात्मा का अस्तित्व ही नहीं रहता। इसलिये सृष्टि को प्रवाह से अनादि मानना ही युक्तियुक्त है।

प्रश्न—यदि हम केवल प्रकृति और ईश्वर को ही मान लें तो क्या हानि है? जीव की क्या जरूरत है?

उत्तर—इसमें कई दोष आते हैं। जैसे: —

१—फिर संसार में सुख-दुःख का ज्ञान किसको हो? परमात्मा तो सुख-दुःख से अतीत है और जड़ प्रकृति को यह ज्ञान ही नहीं हो सकता।

२—जीवधारियों की असमानता का क्या कारण मानना होगा।

३—धर्म-अधर्म की व्यवस्था ही न रहेगी।

४—फिर सारे जगत् में जीवधारियों तथा जड़ वस्तुओं का भेद न रहेगा। एक ही ब्रह्म के व्यापक होने के कारण सब की दशा तथा ज्ञान की अवस्था एक जैसी होनी चाहिये।

इन बातों को दृष्टि में रखते हुए सुख-दुःख भोगने वाली एक अन्य शक्ति को मानना पड़ता है। देखो इसी भाव को दर्शाने के लिये ऋग्वेद मं० १, सू० १६४, मं० २० में अलंकार रूप से बताया गया है कि इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो सुन्दर पक्षी बैठे हैं। ये दोनों मिले हुए हैं। सखा हैं, इनमें एक तो फलों को खाता है किन्तु दूसरा केवल देखता है❀।

❀ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
—ऋग्वेद १-१६४ मं० २०

अर्थ—अनादिकाल से एक साथ रहने वाले परस्पर मैत्री वाले ईश्वर और जीवरूप दो पक्षी प्रकृति रूप वृक्ष पर बैठे हुए हैं, उक्त दोनों में से एक (जीव) सुखदुःखात्मक कर्म फल को खाता है, दूसरा (परमात्मा) फल न खाता हुआ केवल साक्षी रूप से देखता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा है – एक न पैदा होने वाली लाल, श्वेत और कृष्ण रंगों वाली अर्थात् रज, सत्व और तम गुणों वाली प्रकृति है*। इससे सकल वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। एक दूसरा न उत्पन्न होने वाला इनको भोगता हुआ आनन्द करता है और तींसरा न पैदा होने वाला इन भुक्त भोगों से उदासीन रहता है। इन युक्तियों तथा प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि तीन अनादि पदार्थों, अर्थात् ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति को माने विना संसार की जटिल समस्याएं हल नहीं हो सकती।

प्रश्न – हम किस प्रकार जानें कि वास्तव में शरीर में कोई जीव है। आजकल के पदार्थ-विद्या के जानने वाले तो इसे नहीं मानते। वे तो सारे ज्ञान तथा सुख दुःख को प्रकृतिजन्य ही कहते हैं।

उत्तर – बात यह है कि प्रकृति के समझने में हमारे और उनके दृष्टिकोण में भेद है। हम तो प्रकृति समझते हैं संसार के उस उपादान कारण को जो जड़ है, जिसमें न ज्ञान है, न सुख-दुःख भोग करने का सामर्थ्य और न स्वयं गति की शक्ति, परन्तु यदि योरोपियन विद्वान् प्रकृति में उक्त सारे गुणों का आरोपण करते हैं तो फिर हमारा और उनका केवल शब्दों का भेद रह जाता है फिर उनका Matter हमारी प्रकृति और जीव का एक मिश्रण होगा। उन्हें या तो यह मानना पड़ेगा कि प्रकृति में चाहे किसी तरह हो सुख-दुःख अनुभव करने का गुण है। या हमारी तरह प्रकृति से अन्य किसी एक

---

*अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः—इत्यादि।

सत्यार्थ० अष्टम समुल्लासः पृष्ठ १८६ (२४वां संस्करण)

अर्थ—एक (अज) न उत्पन्न होने वाली लाल, श्वेत और काले रंग वाली (रज, सत्व, तम) प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली और बहुत रूपों वाली (प्रकृति) है।

और चेतन पदार्थ को मानना पड़ेगा।

हम जीव के अस्तित्व का अनुभव इस तरह कर सकते हैं—

१—मनुष्य के शरीर के परमाणु कुछ वर्षों के पश्चात् बिल्कुल बदल जाते हैं, फिर भी हमें बाल्यावस्था की बातें याद रहती हैं। इनको याद रखने वाला जीवात्मा है।

२—दो मनुष्य राम और गोपाल घरों को आ रहे हैं। गोपाल राम के पुत्र देवदत्त का बड़ा शत्रु है। एक मनुष्य आकर राम को सम्बोधन करके कहता है, तुम्हारा पुत्र देवदत्त कल प्लेग से मर गया। ये शब्द समानरूप से राम और गोपाल के कानों में पड़ते हैं। परन्तु इस में से राम तो मूर्छित हो जाता है और गोपाल खुशी से उछल पड़ता है। यह भेद किसने उत्पन्न किया? निस्सन्देह दोनों की आत्माओं ने।

३—एक आदमी दूर से थका हुआ घर आ रहा है। पांव उठाए नहीं उठते। जी चाहता है कि रास्ते में ही बैठ जाय। परन्तु एक अन्य आदमी आकर उसको सूचना देता है कि तुम्हारे लड़के को सर्प ने काट लिया है। अब देखें वह थके पांव किस तरह उड़े जा रहे हैं! किसने इनमें यह अपूर्व शक्ति दे दी? जीवात्मा ने, इसी लिये शास्त्रकार ने जीवात्मा के कुछ लक्षण बताए हैं। जहां ये लक्षण दीख पड़ें-समझो वहां जीवात्मा है। वे लक्षण ये हैं:—

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, (न्याय दर्शन) प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, मन की गति, इन्द्रियों के अन्तर विकार, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष और प्रयत्न (वैशेषिक दर्शन) यहां प्राण,अपान, निमेष,उन्मेष, अधिक हैं। जब तक प्राण चलते रहते हैं अथवा आंख झपकती रहती है तब तक समझा जाता है कि जीवात्मा अन्दर है। इसके पश्चात् मृत्यु हो जाती है।

पुनर्जन्म

प्रश्न क्या मृत्यु होने पर जीवात्मा भी मर जाता है? यदि नहीं

मरता तो इसकी क्या गति होती है ?

उत्तर—यह तो आपको पहले ही बताया जा चुका है कि जीव अनादि और अनन्त है। शरीर पात होने पर जीव मरता नहीं वरन् दूसरा शरीर धारण कर लेता है।

प्रश्न—यह किस प्रकार सिद्ध हो ?

उत्तर—इसके तो अनेक प्रमाण हैं। और कोई भी बुद्धिमान् जो जीवन की समस्याओं को समझना चाहता है पुनर्जन्म को माने बिना एक पग भी आगे नहीं चल सकता। देखो, एक बालक तो एक विद्वान्, सदाचारी, धनाढ्य ब्राह्मण के घर में स्वास्थ और नीरोग उत्पन्न होता है और दूसरा एक दुराचारी, निर्धन और मूढ़ के घर में आंखों से अन्धा या कानों से बहरा पैदा होता है। न्यायकारी तथा दयालु परमात्मा ने ऐसा क्यों किया ?

प्रश्न—यह तो माता-पिता के शारीरिक दोषों का फल है। इसमें पूर्वजन्म मानने की क्या जरूरत है ?

उत्तर—परन्तु प्रश्न तो फिर वही रहेगा कि परमात्मा ने उसको ऐसे पापी और रोगी के घर में क्यों जन्म दिया ?

प्रश्न—क्या एक कुम्हार मिट्टी लेकर जैसे खिलौने चाहे नहीं बनाता ? उसे कोई कहता है कि तूने इसे राजा और इसे नौकर क्यों बना दिया ? इससे तो खुदा की शान और उसका जलाल मालूम होता है। वह मालिक है उसने अपने बन्दों को जैसा चाहा बनाया।

उत्तर—यह उपमा तो ठीक नहीं। कुम्हार को कोई इस वास्ते उपालम्भ नहीं देता क्योंकि इसके राजा और नौकर जड़ हैं। इनको सुख दुःख नहीं होता। किन्तु हम तो ज्ञान रखने वाले, सुख दुःख अनुभव करने वाले प्राणी हैं। हमें यदि बिना कारण दुःख मिले तो यह परमात्मा का अन्याय होगा। अतः यही अनुमान होता है कि हमें हमारा यह जन्म हमारे पूर्वकर्मों के अनुसार मिला है।

प्रश्न—क्या कोई और भी प्रमाण हैं ?

उत्तर–हां हैं। देखो एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न हुए दो जोड़ों के गुण, कर्म, स्वभाव तथा ज्ञान में भी अन्तर होता है। यह भेद क्यों ? जब प्राकृतिक तौर पर उनमें इतनी समानता है।

२–छोटा बच्चा कभी हंसता है, कभी रोता है। यह भी पूर्वजन्म के संस्कारों का फल है।

३—बहुत से बालक जिन्हें Prodigles कहते हैं, बाल्यावस्था में ही राग गणित आदि बड़ी २ विद्याएँ अनायास सीख जाते हैं। यह भी पूर्वजन्म का प्रभाव है।

४—प्राय: ऐसा भी सुनने में आता है कि कोई-कोई बालक अपने भी पूर्वजन्म का हाल भी बताते हैं।

प्रश्न—आपने कहा कि हमें यह जन्म अपने पूर्व कर्मों के अनुसार मिलता है और जो दुःख हम भोगते हैं वह हमारे पूर्व कर्मों का फल है। प्रयोजन यह है कि हम बुरे कर्मों से बचें, परन्तु जब हमें यह मालूम ही नहीं कि किस पाप का हमें दण्ड मिल रहा है तो हमारा सुधार किस प्रकार हो सकता है।

उत्तर—हम यह पहले बता चुके हैं कि किन्हीं-किन्हीं बालकों को अपने पूर्वजन्म की बातें याद भी रहती हैं और योगीजन तो अभ्यास से याद भी कर सकते हैं। परन्तु यदि कोई बात याद न भी रहे तो क्या यह मान लें कि वह हुई ही नहीं ? हमें अपनी बाल्यावस्था की बहुत सी बातें याद नहीं रहती, तो क्या बाल्यावस्था में यह हुई ही नहीं ?

यह भी परमात्मा की दया है कि हमें पूर्वजन्म की बातें याद नहीं रहती। नहीं तो न जाने क्या-क्या झगड़े खड़े हो जाते। रही सुधार की बात, इसमें भी हमारा भला है। यदि हमें पता होता कि हमें अमुक पाप का दण्ड मिला है तो हम उस पाप से ही बचते। अब तो

यह जानकर कि किसी पाप का दण्ड मिला है हम सब ही पापों से बचने का प्रयत्न करते हैं।

प्रश्न—यह शरीर त्याग कर जीव कहां जाता है और किस प्रकार ?

उत्तर—जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर सहित जो उसके कर्मानुसार बना है दूसरे मनुष्य अथवा पशु आदि योनि में चला जाता है।

प्रश्न – मनुष्य योनि और पशु योनि में क्या भेद है ?

उत्तर—मनुष्य योनि कर्मयोनि और पशुयोनि-भोग योनि कहलाती है। मनुष्य योनि में आकर जीव अपनी स्वतन्त्रता से काम करता है। ऊंचे भी उठ सकता है। नीचे भी गिर सकता है। पशु-योनि में इसे अपने कर्मों का केवल फल भोगना पड़ता है और इसकी समाप्ति पर फिर मनुष्यजन्म मिल जाता है।

प्रश्न—मनुष्य अपनी मरजी से तो कुछ नहीं कर सकता, जो ईश्वर ने इसके भाग्य में लिख दिया वही इसको करना पड़ता है और जो सुख दुःख उसकी किस्मत में होते हैं वही उसको भोगने पड़ते हैं।

उत्तर – नहीं, ऐसा नहीं है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र परन्तु परमात्मा से फल पाने में परतन्त्र है, यदि हम यह मान लें कि सब कुछ पहले से ही हमारी किस्मत में लिख दिया गया है और हम इससे बच नहीं सकते तो फिर हमें किसी कर्म का अच्छा या बुरा फल नहीं मिलना चाहिये।

प्रश्न—फल दृष्टि से कर्मों के कितने रूप हैं।

उत्तर—फल भेद से कर्मों की तीन अवस्थायें होती हैं। जब हम कर्म कर रहे होते हैं तो उसको क्रियमाण कर्म कहते हैं। इनमें से किसी कर्म का उसी समय फल मिल जाता है जैसे आग में उंगली डालना, साबुन से कपड़ा धोना। कुछ कर्म ऐसे होते हैं कि उनका फल उसी समय नहीं मिलता, किन्तु वह मिलेगा अवश्य। इसको "सचित"

अर्थात् 'इकट्ठा किया हुआ कर्म" कहते हैं। जब इनका फल मिलने लगता है तो इसको प्रारब्ध कहते हैं। फिर प्रारब्ध के भी दो भेद हैं—एक अदृष्ट कर्मों का फल जैसे जन्म से अन्धा होना। दूसरा पुरुषार्थ का फल जैसे पढ़ने तथा परीक्षा देने पर उत्तीर्ण होना अथवा बीज बोने के छः मास पश्चात् खेती काटना।

स्वर्ग और नरक

प्रश्न—तो मरण पश्चात् मनुष्य नरक अथवा स्वर्ग में नहीं जाता ?

उत्तर—जाता है परन्तु तुम्हारे नरक या स्वर्ग में नहीं।

प्रश्न—हमारा स्वर्ग, नरक क्या दूसरा है और आपका दूसरा ?

उत्तर—आप तो मानते हैं कि मरने के पीछे आदमी को फरिश्ते अथवा यमदूत खुदा के सामने ले जाते हैं और फिर इसको इसके कर्मों के अनुसार दोजख में डाल दिया जाता है। या बहिश्त में पहुंचा दिया जाता है। परन्तु हम यह मानते हैं कि मनुष्य को मरने के पीछे जन्म लेना पड़ता है। जो सुख इसको इस जन्म में मिलता है वह उसका स्वर्ग और जो दुःख मिलता है वह उसका नरक है। स्वर्ग का अर्थ सुख और नरक का अर्थ दुःख है।

प्रश्न—परन्तु यदि यह मान लिया जाए कि मरने के पीछे स्थान विशेष में ही मनुष्यों को रखकर उन्हें सुख अथवा दुःख पहुंचाया जाता है तो इसमें क्या आपत्ति है।

उत्तर—बहुत, देखिये :—

शुभ-अशुभ कर्मों के न्यूनाधिक्य का विचार किए बिना एक ही स्थान में सबको डाल देना बड़ा अन्याय है। यदि यह कहें कि नरक में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःख और स्वर्ग में कई प्रकार के सुख हैं तो इसमें एक त्रुटि रहेगी। आप के बहिश्त में सुख तो भिन्न प्रकार

के होंगे परन्तु वहां दुःख बिल्कुल नहीं होगा। उसी प्रकार नरक मैं सुख का लेशमात्र भी न होगा। और यदि यह मान लिया जाए कि सुख दुःख दोनों होते हैं और होते भी हैं कर्मानुसार अलग-अलग, तो आपने हमारी ही बात मान ली। परन्तु आप वास्तव में मानते यही हैं कि सबको एक जैसा सुख और दुःख मिलता है ?

प्रश्न – तो इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर – अभी यह बात आपके ध्यान में नहीं आई। देखिये :—

१—इसमें सबसे बड़ा दोष तो यह है कि थोड़ा पाप करने वालों अथवा अधिक पापी होने पर भी किसी पीर पैगम्बर अथवा देवता पर विश्वास रखने के कारण उनको स्वर्ग मिल जायगा, परन्तु अपने बुरे कर्मों का दुःख रूप फल नही मिलेगा।

२—इसी तरह पापी लोगों को सदा के लिये नरक में रक्खा जायगा। और उनको अपने सुधार का अवसर न मिलेगा। और न अच्छे कर्मों का फल सुख भोग।

३—यदि आपकी तरह किस्मत के नविशते को मान लिया जाए तो फिर नरक और स्वर्ग में कोई क्यों भेजा जाय।

४--कुछ बच्चे जन्मते ही मर जाते हैं उन्होंने न कोई अच्छा कर्म किया न बुरा। उनको कहां भेजा जायगा ?

इसलिये यही मानना ठीक है कि मर कर मनुष्य दूसरी योनि में जाता है और जो उसके अच्छे कर्म हैं उनके अनुसार उसको सुख और जो बुरे कर्म हैं उनके अनुकूल दुःख मिलता है, सुख-दुःख अच्छे बुरे कर्मों की तरह मिले-जुले रहते हैं।

जीवात्मा का स्वरूप

प्रश्न--जीवात्मा सारे शरीर में फैला हुआ है अथवा किसी स्थान-विशेष में इसका निवास होता है।

उत्तर--स्थान विशेष में। यदि इसको सारे शरीर में फैला हुआ अर्थात् विभु मानें तो इसमें बहुत सी आपत्तियां आती हैं। जैसे :--

१—यह मानना पड़ेगा कि हाथी का आत्मा बड़ा और कीट-पतंग का छोटा सा होता है।

२—यदि कोई हाथ पांव कट जाए तो जीवात्मा का भी कुछ हिस्सा कट गया। अथवा यह सुकड़ कर थोड़ी जगह में आ जायगा। इसी तरह मरने पर हाथी के जीवात्मा को सुकड़ कर कीड़ों के शरीर में और कीड़ों के जीवात्मा को फैल कर हाथी के शरीर में जाना पड़ेगा। ये दोनों बातें निराकार में नहीं बल्कि भौतिक स्थूल वस्तुओं में घट सकती हैं।

३—यदि सारे शरीर में हो तो फिर सोते जागते और मूर्छित अवस्था में भी हमें सब बातों का ज्ञान होना चाहिये। अतः आत्मा का स्वरूप अणु है। यह छोटे से छोटे जन्तु में और बड़े से बड़े प्राणधारी में रहकर इसका शासन कर सकता है। गीता में कहा है कि जिस तरह सूर्य सारे संसार को ज्योतिर्मय करता है, इसी प्रकार जीवात्मा सारे शरीर को रोशन करता है*। या कह सकते हैं कि जिस तरह एक कोने में रक्खा हुआ बिजली का तेज लैम्प सारे कमरे को ज्योतिर्मय कर देता है इसी तरह यह जीवात्मा सारे शरीर को रोशन करता है।

प्रश्न—जीवात्मा दूसरे शरीर में किस प्रकार जाता है?

उत्तर—हमारे दो शरीर हैं। एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म। स्थूल शरीर छूट जाता है परन्तु सूक्ष्म शरीर मरने पर भी साथ जाता है, यहां तक कि यह मोक्ष अवस्था में भी साथ रहता है। इसी से जीवात्मा

---

*यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ गीता १३-३३

अर्थ—हे अर्जुन जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा सारे शरीर को प्रकाशित करता है।

सुख का अनुभव करता है। मृत्यु के समय जैसा सूक्ष्म शरीर होता है वैसा ही उसको अगला जन्म मिलता है।

जिस तरह हवा फूल से गन्ध को लेकर उड़ जाती है इसी तरह मृत्यु के समय जीवात्मा इस सूक्ष्म शरीर को लेकर दूसरे शरीर में जाता है।❀

प्रश्न—फिर इस बार-बार जन्म लेने का क्या परिणाम होता है ?

उत्तर—जीवात्मा जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है। इसको मोक्ष अवस्था मिल जाती है जहां यह परमात्मा के रूप में मग्न होकर परम सुख को प्राप्त करता है ?

प्रश्न – इस अवस्था को प्राप्त करने के क्या साधन हैं ?

उत्तर—अष्टांग योग। इसका वर्णन पहले हो चुका है परन्तु आज कल तो लोगों ने बड़े सुगम रास्ते निकाल लिये हैं।

प्रश्न वे कौन से ?

तीथ

उत्तर इन साधनों को तीर्थ कहते हैं--कहीं किसी नदी में, कहीं तालाब में स्नान करना मोक्ष के लिए काफी समझा जाता है, जैसे गंगा, कुरुक्षेत्र, पुष्करराज, आदि तीर्थों में स्नान करना। परन्तु इन भक्तों का वहां बार-बार जाकर स्नान करना इनके विश्वास की निर्बलता को प्रकट करता है। क्योंकि इससे सिद्ध होता है कि उनके पाप छूटे नहीं। यदि छूट जाते तो वह बार-बार स्नान के लिये क्यों जाते ? इसी

❀ शरीरं यद् वाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ गीता १५-८

अर्थ—वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही (देहादिकों का स्वामी जीवात्मा भी) जिस पहले शरीर को त्यागता है उससे इन (मन सहित इन्द्रियों) को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होना होता है उसमें जाता है।

प्रकार बदरीनाथ, अमरनाथ द्वारिका आदि स्थानों से दर्शन मात्र से ही यह लोग मोक्ष प्राप्ति मानते हैं। कोई सुलफा पिलाकर, कोई राख खिला कर, कोई चरणामृत पिलाकर, कोई कान फाड़ कर और कोई तिलक छाप लगा कर मोक्ष का अधिकारी बना देते हैं। कहीं मूर्ति को भोग लगाने से, कहीं बेलपत्र चढ़ाने से ही मोक्ष का रास्ता खुल जाता है। यह तो दुकानदारी है। इन बातों का आत्मा की पवित्रता से कोई सम्बन्ध नहीं।

वेद तथा अन्य धर्मशास्त्र

प्रश्न—आपके धर्म ग्रन्थ कौन से हैं ?

उत्तर—मुख्य धर्म ग्रन्थ तो केवल वेद हैं, परन्तु उनकी व्याख्या सहायता, अथवा अनुकूलता के कारण और भी कई ग्रन्थ हैं, जिनको सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

प्रश्न—वेद क्या हैं और अन्य ग्रन्थ क्या ?

उत्तर—वेद का अर्थ है ज्ञान, अर्थात् वह ज्ञान जो परमात्मा की ओर से मनुष्य को मिला, वेद कहलाता है।

प्रश्न क्या ये चार पुस्तकें जिन्हें वेद कहा जाता है परमात्मा की तरफ से मिली थीं ?

उत्तर—नहीं, ये कैसे मिल सकती थीं, ये तो पीछे से मनुष्यों की बनाई हुई हैं। परमात्मा की तरफ से केवल ज्ञान मिला था।

प्रश्न—ज्ञान तो प्रत्येक पुस्तक में है फिर इनमें और वेद में क्या अन्तर हुआ।

उत्तर—यह जरूरी नहीं कि हर एक पुस्तक में ज्ञान ही हो। ऐसी भी पुस्तकें हैं जो झूठी कहानियों और अज्ञान की बातों से भरी हुई हैं ?

प्रश्न—आप उनको जाने दीजिये। ऐसी भी तो पुस्तकें हैं जो सच्चे ज्ञान के देने वाली हैं। उनमें और वेदों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—यदि यह मान लिया जाये कि इन पुस्तकों में जिनका

आप संकेत करते हैं निर्भ्रान्त ज्ञान है तो भेद एकमात्र यह रह जायगा कि वेद में पूर्ण ज्ञान है और उनमें ज्ञान का कुछ अंश। इसीलिये आर्य समाज के तीसरे नियम में कहा है—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"

प्रश्न सारी विद्यायें छोटी सी पुस्तकों में कैसे आ सकती हैं, और सारी विद्याओं को कौन जान सकता है?

उत्तर—यही तो वेदों का महत्व है। इनमें पूर्ण ज्ञान है, परन्तु बीज रूप से। जिस प्रकार बड़ के एक छोटे से बीज में इतने विशाल वृक्ष का रूप छिपा हुआ होता है, इसी प्रकार सारी विद्याऐं बीज रूप से वेदों में हैं।

यह सत्य है कि कोई भी मनुष्य सब विद्याओं को नहीं जान सकता परन्तु वेद तो सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान हैं! इसलिये यहां ऐसी शंका नहीं हो सकती।❀

प्रश्न—यह ज्ञान कब और किसको मिला?

उत्तर—यह ज्ञान सृष्टि के आदि में चार ऋषियों अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा को मिला।

प्रश्न—इनको ही क्यो मिला?

उत्तर—क्योंकि ये सबसे अधिक इसके अधिकारी थे।

प्रश्न—परमात्मा के पास तो वाणी नहीं, फिर उसने इनको यह ज्ञान कैसे दिया?

उत्तर—वाणी और कान की जरूरत तो तब होती है जब बोलने वाले और सुनने वाले में अन्तर हो। आखिर बोलकर अन्तरात्मा तक ही तो आवाज पहुंचाई जाती है। परन्तु जब बोलने वाला वहां पहले ही मौजूद हो फिर वाणी अथवा कान की क्या आवश्यकता है। सर्व-व्यापक होने के कारण परमात्मा ने अपना ज्ञान जीव को दिया। इन

❀देखो श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।

ऋषियों ने फिर इस ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाया।

प्रश्न—समझ में नहीं आता कि इस तरह ज्ञान कैसे मिल सकता है।

उत्तर—समझना कुछ कठिन तो है। परन्तु इससे मिलता जुलता दृश्य तो आज कल भी दिखाई देता है। एक मैसमैरिजम करने वाला मूर्छित व्यक्ति से जो चाहे कहला लेता है। इसी प्रकार परमात्मा से प्रेरित आत्माओं ने यदि इस ज्ञान को प्राप्त किया और इसको बोलकर दूसरों को सुनाया तो इसमें क्या आश्चर्य है।

प्रश्न—तो इसका तो यह अर्थ हुआ कि इन ऋषियों को वही शब्द भी प्राप्त हुए जिनमें वेद लिखे हुए हैं।

उत्तर - हां। यद्यपि कोई कोई ऐसा भी मानते हैं कि पहले परमात्मा की ओर से ज्ञान मिला, फिर ऋषियों ने इसे अपनी भाषा में लेखबद्ध कर लिया परन्तु ऐसा मानने में तो बड़ी आपत्तियां होंगी।

प्रश्न वह क्या ?

उत्तर—प्रश्न यह होगा कि ज्ञान किस तरह दिया गया। यह तो आप मानेंगे कि ज्ञान बिना भाषा के नहीं मिल सकता। जब हम अपने भावों को प्रकट करते हैं तो किसी न किसी भाषा के द्वारा। मन में विचार भी हैं तो भी भाषा के द्वारा। यदि यह मानें कि भाषा पहले थी, ज्ञान फिर हुआ तो संस्कृत जैसी पूर्ण, सुललित, सुगठित भाषा बिना ज्ञान के कैसे हो गई। अतः ज्ञान और भाषा को साथ-साथ मानना पड़ता है और यह ठीक मालूम होता है कि परमात्मा ने इन शब्दों में ही अपना ज्ञान दिया।

प्रश्न—संस्कृत भाषा में ही क्यों दिया, किसी अन्य भाषा में क्यों नहीं दिया ?

उत्तर यदि किसी और भाषा में दिया जाय तो भी यही आपत्ति उठाई जाती कि इसमें क्यों दिया गया। परन्तु संस्कृत के सम्बन्ध में भाषा-भेद का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—चूंकि यह मनुष्य की भाषा नहीं—बल्कि दैवी भाषा है और नित्य है। एक शब्द होता है एक उसका अर्थ होता है और एक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता है। यह शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। संस्कृत प्रारम्भिक भाषा है। इसे कुदरती भाषा भी कह सकते हैं। अन्य भाषाएँ इससे ही निकली है अथवा प्रभावित हुई हैं।

प्रश्न—वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में क्या प्रमाण हैं। बाइबल, कुरान, जिन्दावस्ता को भी तो ईश्वरीय वाणी (इलहाम) माना जाता है।

उत्तर—केवल किसी बात के मानने से ही वह सत्य नहीं हो जाती। अच्छे अच्छे विद्वान् झूठी बातों को मान रहे हैं। देखना यह है कि ईश्वरीय ज्ञान होने के लक्षण किसमें घटते हैं।

प्रश्न—वे लक्षण कौन से हैं ?

उत्तर—सुनिये।❀

१—प्रथम, जैसा ईश्वर का वास्तविक स्वरूप वैसा ही इसमें वर्णित हो। इससे विरुद्ध कोई भी बात न हो। अर्थात् जैसा ईश्वर पवित्र सर्वविद्यावित्, शुद्धगुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणों वाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत है। अन्य कोई नहीं।

२—परमात्मा ने सृष्टि बनाई है और वेद भी परमात्मा ने ही दिये हैं। इसलिये इन दोनों में विरोध नहीं होना चाहिये।

३—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध इसमें किसी बात का कथन न हो।

४—इसमें ईश्वर का पूर्ण ज्ञान हो चाहे बीज रूप में हो। किसी

❀ अध्यापकों को चाहिये कि उदाहरण देकर इन बातों को विद्यार्थियों के हृदय पर भली भांति अंकित कर दें।

प्रकार की त्रुटि न हो जिसको पीछे से पूर्ण करने की जरूरत पड़े ।

५ यह मनुष्य मात्र के लिये एक जैसी लाभकारी हो और किसी स्थान अथवा जाति यिशेष के लिए इसका निर्माण न हो ।

६—सबसे मुख्य बात यह है कि ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आदि में होना चाहिये । अतः इसमें विशेष मनुष्यों अथवा स्थानों का वर्णन न होना चाहिए । बाईबल तथा कुरान को बने हुए दो हजार वर्ष से कम हुए हैं और जिन्दावस्ता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसको बने चार हजार वर्ष हो गये हैं । केवल एक वेदहै ही जिनके सम्बन्ध में योरप के विद्वान् भी कहते हैं कि दुनिया के पुस्तकालय में यह सबसे पुरानी पुस्तकें हैं ।

प्रश्न—सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिये न ईश्वर की जरूरत है और न सृष्टि के आदि में ईश्वरीय ज्ञान की । जैसे-जैसे मनुष्य उन्नति करता जाता है उसका अनुभव और ज्ञान भी बढ़ता जाता है । यही मानना ठीक होगा कि जो कुछ ज्ञान संसार में आया है वह केवल मनुष्यों के अपने परिश्रम और अनुभव का फल है ।

उत्तर—यह बात विकासवाद (Evoivlon) की है । विकासवाद अपने सारे अङ्गों में अभी तक निर्विवाद सिद्धांत सिद्ध नहीं कर सका । इसमें कहा गया है कि मनुष्य और बन्दर चचेरे भाई हैं । अर्थात् इन दोनों के पूर्वज जो अब लोप हो गये हैं एक ही थे । इसका यह अभिप्राय है कि विकासवाद के अनुकूल बन्दर की और मनुष्य की शक्तियां बहुत कुछ एक जैसी होनी चाहियें, कम से कम अन्य पशु-पक्षियों की अपेक्षा तो इनकी शारीरिक रचना अधिक उन्नत होनी चाहिये । परन्तु हम देखते हैं कि तोते और मैंना का गला बन्दर से बहुत उन्नत होता है । बन्दर को हजार सिखाओ वह कभी मनुष्यों की नाईं बात-चीत नहीं कर सकता । परन्तु तोते और मैंना तो अच्छी तरह मनुष्यों की नाईं शब्दोच्चारण कर सकते हैं । अन्य अनेक पशु-पक्षियों को भी बहुत

सी शक्तियां मनुष्यों से अधिक दीगई है जैसे घोड़े को स्मरण तथा श्रवण शक्ति, कुत्ते को सूँघने की शक्ति और गिद्ध को देखने की शक्ति।

और यह भी देखने में नहीं आता कि सहायता अथवा शिक्षा के बिना मनुष्य स्वयं शिक्षित हो जाता हो। अफ्रीका के जंगली आदमी करोड़ों वर्षों से इसी अवस्था में चले आते हैं। परन्तु जहां विदेशी शिक्षित जातियों का उनसे सम्पर्क हुआ है, वहां वे कुछ-कुछ शिक्षित होने लगे हैं।

अकबर ने यह देखने के लिये कि मनुष्य की असली भाषा क्या है एक गुंगलमहल बनवाया था। इसमें कुछ नवजात बालकों को रखा गया। इनका पालन-पोषण ऐसी स्त्रियों को दिया गया जो स्वयं बहरी और गूंगी थी। परिणाम यह हुआ कि बारह-तेरह वर्ष बीतने पर भी ये बालक शिशुवत् चीत्कार करते थे। बरेली तथा कानपुर के अनाथालयों में ऐसे बालक लाये गये जिसको भेड़ियों ने पाला था। भेड़ियों के गारों में से मिले थे। वे भेड़ियों की नाई चारों हाथों पैरों पर चलते थे। कच्चा मांस खाते थे और इन्हीं की तरह बोलते थे। उनकी सारी चेष्टाएं भेड़ियों जैसी थीं। कई वर्ष के सुधार के पश्चात् वे मनुष्यवत् चलने, खाने-पीने और बोलने लगे। इससे यह सिद्ध होता है कि बिना सिखाये कोई कुछ उन्नति नहीं कर सकता। इसीलिये परमात्मा को आदि गुरु कहा गया है।❀

प्रश्न—यदि हम मान लें कि समय-समय पर मनुष्यों को ईश्वरीय वाणी मिलती है तो क्या आपत्ति है?

उत्तर—इसमें बड़ी आपत्ति तो यह है कि इस तरह ईश्वरीय

❀ स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्।

(योगसूत्र समाधिपाद सू० २६)

अर्थ—वह (परमात्मा) काल के बन्धन से रहित होने के कारण पूर्व पुरुषों का भी गुरु है।

वाणी अपूर्ण रहेगी। जो ज्ञान बाद में मिला उससे पहले के मनुष्य वंचित रहे और जो आगे होगा उसमें हम वंचित रहेंगे, इससे परमात्मा अन्यायकारी ठहरेगा। परन्तु इस व्यक्तिगत इलहाम का ख्याल आपके दिल में कैसे आया, इस सन्देह का कारण शायद यह है कि कभी कभी मनुष्यों को असाधारण सा ज्ञान होता है जिसे पञ्जाबी में "फुरना" कहते हैं परन्तु हम उसे ईश्वरीय ज्ञान नहीं कह सकते।

आपने देखा होगा कि कई बार आपको कोई बात अथवा किसी पुरुष विशेष का नाम याद नहीं आता। आप हजार बार यत्न करते हैं, कुछ नहीं बनता, परन्तु अकस्मात् आपको नाम भी याद आ जाता है और सारी बात भी। हम इसको ईश्वरीय ज्ञान नहीं कह सकते। बात यह है कि पूर्वजन्म का बहुत सा सञ्चित ज्ञान हमारी आत्माओं में रहता है और समय-समय पर उनका जागरण हो जाता है। यूनान के विख्यात् विद्वान् सुकरात का तो यह कहना है कि हम संसार में कोई बात नई नहीं सीखते केवल पुरानी बातों को याद करते हैं।

यदि इस 'फुरना' को हम ईश्वरीय वाणी का स्थान देने लगे तो गली-गली और कूचे-कूचे में पैगम्बर और अवतार खड़े हो जायेंगे और इनके अनुयायिओं में वह संग्राम मचेगा कि जीना कठिन हो जायगा। अतः इस "फुरना" को अनुचित ऊंचा स्थान देना संसार की शान्ति के लिये भी ठीक नहीं।

प्रश्न – इस ईश्वरीय वाणी के भाव ने संसार में बड़ा घोर संग्राम खड़ा कर दिया है। मुसलमान कुरान को और ईसाई अञ्जील को ईश्वरीय वाणी मानते हैं और प्रत्येक समुदाय दूसरों को झूठा ठहरा कर अपनी ओर लाना चाहता है, यह आचरण ठीक नहीं क्योंकि गीता में भी कहा है।

ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थसर्वशः। गीता, ४-११
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः । गीता ३-३५

अर्थ –"हे अर्जुन ! जो जैसे मुझे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं (इस रहस्य को जानकर ही) बुद्धिमान् मनुष्यगण सर्व प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं ।"

"अच्छी प्रकार आचरण किये हुये दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है, अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारी है परन्तु दूसरे का धर्म भय को देने वाला है ।"

इससे सिद्ध होता है कि सबको अपन-अपना धर्म प्यारा है । सारे ही रास्ते ईश्वर प्राप्ति के लिये हैं ।

उत्तर—आपने न धर्म का अर्थ समझा है और न श्लोकों का । का । इन श्लोकों के अर्थ न समझने से ही आर्यावर्त को घोर विपत्ति का सामना करना पड़ा है ।

प्रश्न – यह कैसे ?

उत्तर – आप पहले दूसरे श्लोक को लें । जैसा कि आपने कहा है निस्सन्देह यह लिखा है कि दूसरे के अच्छे धर्म से अपना खोटा धर्म भी अच्छा है । अपने धर्म में मरना भी श्रेष्ठ है, दूसरे का धर्म तो बड़ा भय देने वाला होता है । परन्तु यहां पहले हमें धर्म का अर्थ समझ लेना चाहिए ।

प्रायः "धर्म" और "मजहब" को दो पर्यायवाचक शब्द समझ लिया जाता है । कारण यह है कि दूसरी भाषाओं में धर्म का पर्याय-वाचक शब्द मिलता ही नहीं । 'मजहब" का यदि हिन्दी भाषा में कोई पर्यायवाचक शब्द है, तो वह "सम्प्रदाय" है, धर्म नहीं । धर्म का अर्थ है वह गुण अथवा शक्ति जो किसी वस्तु विशेष के अस्तित्व को कायम रक्खे । जो गुण, कर्म और स्वभाव एक ब्राह्मण को ब्राह्मण,एक क्षत्री को क्षत्री एक वैश्यको वैश्य और एक शूद्रको शूद्र बनाए रखते हैं वही उनका धर्म है । जो गुण मनुष्य को मनुष्यपद से गिरने नहीं देते बल्कि इसे वही धारण किए अथवा थामे रहते हैं वही इसका धर्म है । जड़

वस्तुओं का भी इसी प्रकार अपना २ धर्म होता है। जब आग में जलाने की शक्ति नहीं रहती वह अपना धर्म छोड़ देती हैं, फिर वह आग नहीं कहला सकती।

परन्तु उस श्रद्धा के कारण जो मनुष्यों को किसी पुरुष अथवा सथन विशेष में होती है सम्प्रदायों का उद्भव हो जाता है।

प्रश्न तो फिर यह क्यों कहा गया कि अपना खोटा धर्म भी अच्छा, दूसरों का अच्छा धर्म भी बुरा, और अपने ही धर्म में मरना श्रेष्ठ है ?

उत्तर—यह गीता के तीसरे अध्याय का ३५वां श्लोक है। यदि आप इस श्लोक का पूर्वापर देखेंगे, तो ज्ञात होगा कि प्रश्न यह उठाया गया है कि मनुष्य कर्मों में किस प्रकार प्रवृत्त होता है। इस प्रश्न का संक्षेप से यह उत्तर दिया गया है कि मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुकूल कर्म करता है। यदि इसको इसके प्रतिकूल करने पर बाध्य किया जाए तो यह उसके लिए हानिकारक होता है।

यदि एक ब्राह्मण अपने प्राकृत धर्म, सन्तोष, विद्या-प्रियता, सादा जीवन, त्याग वृत्ति और आत्मिक सन्तुष्टि को छोड़ कर व्यापार करने लगे अथवा शस्त्रधारी बनने की चेष्टा करे तो उसका यह उद्योग न केवल निष्फल होगा वरन् हानिकारक होगा। इसी प्रकार किसी अन्य वर्णस्थ पुरुष का बिना तय्यारी और अधिकारी बनने के किसी दूसरे वर्ण के धर्म के अनुकरण की चेष्टा करना अनधिकार और दुःखप्रद चेष्टां होगी। जिस जीवन-व्रत को हमने धारण किया है उसमें सुदृढ़ रहना और विचलित न होना हमारे कल्याण का करने वाला है। परन्तु अधिकारी बनने पर हम अन्य धर्म को ग्रहण कर सकते हैं। इसी भाव को गीता (१८-४७) में और भी स्पष्ट कर दिया गया है—श्लोक यह है शब्द भी करीब २ वही हैं।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥

अर्थ —अपना गुण रहित धर्म भी दूसरों के अच्छे धर्म से अच्छा है। अपने स्वभाव के अनुकूल नियत किए हुए धर्म को करता हुआ पाप के करने वाला नहीं होता।

इस श्लोक का पहला आधा भाग तो वही है, दूसरे में कहा है कि स्वभावानुकूल अपना नियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न—और दूसरे श्लोक का क्या अर्थ करोगे ?

उत्तर—यहां भी यह अभिप्राय नहीं है कि सारे मार्ग अर्थात् सारे सम्प्रदायों के मार्ग ईश्वर प्राप्ति के साधन है। यह तो गीता में एक प्रश्न (Proposition) की नाईं रखा गया हैं। फिर विस्तारपूर्वक बताया गया है कि मनुष्य किस २ प्रकार ईश्वर प्राप्ति का यत्न करते हैं। मुख्य करके इसके तीन साधन हैं। और जिस २ भावना को हृदय में धारण करके मनुष्य कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। जो सकाम कर्म करते हैं उनकी वह कामना पूरी हो जाती है, परन्तु जो निष्काम भाव से ईश्वर आराधना करते हैं उनको ईश्वर की प्राप्ति होती है। इस श्लोक का साफ अर्थ यह है कि जिस भावना को लेकर जो मेरे पास आता है मैं उसकी वही भावना पूरी कर देता हूं।

इसके लिये एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है।

एक राजा देशान्तर में जाने लगा। उसने अपनी रानियों से पूछा "तुम्हारे लिये क्या लाऊं ? 'किसी ने कहा—जड़ाऊ हार लाना, किसी ने कहा—'सुनहरी काम का रेशमी जोड़ा लाना' किसी ने कहा— 'सुन्दर रथ लाना। किसी ने कुछ मंगवाया और किसी ने कुछ। सब से बड़ी और पतिभक्ता पटरानी ने कहा,—"महाराज मुझे तो कुछ नहीं चाहिये, केवल आप ही चाहियें आप ही सकुशल लौटें, बस यही

चाहती हूं।" महाराजा ने सब की चीजें लिख लीं। महारानी की भी बात लिखली। जब लौट कर आए तो जो जिसने मंगाया था उसके पास भिजवा दिया, परन्तु बाकी हाथी, घोड़े, हीरे जवाहरात, जितनी सम्पत्ति थी सब बड़ी रानी के पास अपने साथ ले गये। सौतों को डाह हुई। महाराजा से शिकायत की गई परन्तु उनसे सीधा उत्तर यह मिला --देख लो! जिसने जो मांगा था वह उसे मिल गया। बड़ी रानी ने कहा था मुझे कुछ नहीं चाहिये केवल आप ही सकुशल आजाएं। अत: मैं उसके पास चला गया हूं और मेरी सम्पत्ति भी। रानियों को अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप हुआ, पर अब क्या हो सकता था। यही बात ईश्वर पूजा की है ?

परन्तु आपका वास्तविक भाव तो कुछ और ही है। आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मुसलमान तथा ईसाई आदि धर्म सब ही सत्य-मार्ग पर हैं। यह इस श्लोक से कैसे अभिप्रेत हो सकता है क्योंकि गीता के दिनों में इस्लाम और ईसाई सम्प्रदायों का तो जन्म ही नहीं हुआ था। इन सम्प्रदायों में जो धर्म के मर्म हैं वे सब वैदिक धर्म के प्रतिबिम्ब हैं, अन्य इन के अपने साम्प्रदायिक विचार और विश्वास हैं।

प्रश्न --वेदों के नाम क्या हैं ? क्या और भी कोई धर्म ग्रन्थ है ?

उत्तर--वेद चार हैं--ऋक्, यजु:, साम, और अथर्व। इनको श्रुति का नाम भी दिया जाता है। क्योंकि पहले इस ज्ञान को ऋषियों ने अपने आत्मा में सुना, फिर दूसरों ने इनसे सुना। इस तरह परम्परा-गत सुनने से इनका नाम श्रुति हो गया। वेद तो ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण स्वत: प्रमाण हैं अर्थात् जिस प्रकार सूर्य स्वयं-सिद्ध ज्योति का पुञ्ज है इसको दिखाने के लिये दीपक की जरूरत नहीं, इसी प्रकार वेद स्वयंसिद्ध हैं।

परन्तु दूसरे ग्रन्थों की सत्यता को इन पर परखा जाता है। जो ग्रन्थ अथवा इनका जितना भाग वेदानुकूल है वह प्रामाणिक है। विरुद्ध होने से अन्य भाग अप्रामाणिक है ?

प्रश्न—वे ग्रन्थ कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—सुनिये—

१—चारों वेदों के चार उपवेद हैं

१—ग्रायुर्वेद (Medicine) यह ऋग्वेद सम्बन्धी हैं।

२—धनुर्वेद—(यजुर्वेद सम्बन्धी) इसमें युद्ध विद्या बताई गई है। ३—गन्धर्ववेद (सामवेद सम्बन्धी) इसमें राग विद्या है ४—ग्रर्थ वेद (Mechanics & Economics)

२—शाखा—

चारों वेदों के ग्रतिरिक्त वेदों की १११७ शाखा हैं। ये ब्रह्मादि ऋषियों के बनाए हुए वेदों के व्याख्यान रूप ग्रन्थ हैं। इनमें से ग्राज कल बहुत कम मिलती हैं। कुछ विद्वान् इन शाखाग्रों को कम से कम इनमें से कई एक को—वेदों के पाठान्तर भी मानते हैं।

३—ब्राह्मण—

इनसे उतर कर "ब्राह्मण" हैं। ब्रह्म नाम वेद तथा ईश्वर का है। चूंकि इन ग्रन्थों में वेद तथा ईश्वर सम्बन्धी विषयों का विचार है ग्रतः इनको ब्राह्मण कहा गया है। सनातनधर्मावलम्बी तो ब्राह्मणों को भी वेदों का ही भाग मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं। वेद तो केवल सँहिता मात्र (मन्त्र भाग) ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद की व्याख्या ग्रौर यज्ञादि में इनका विनियोग दिया गया है। ब्राह्मणों में बहुत से विख्यात पुरुषों का इतिहास भी है। ग्रतः वे वेदों का भाग नहीं। स्थान २ पर वेदमन्त्रों की प्रतीक (मन्त्र का पहला हिस्सा) देकर इस पर विचार किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह व्याख्या-मन्त्र हैं, स्वयं वेद नहीं।

हर एक वेद के कई एक ब्राह्मण हैं। इनमें से ग्राजकल निम्न-लिखित छपे हुए मिलते हैं:—

ऋग्वेद सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थ

ऐतरेय ब्राह्मणम्।

कौषीतकी ब्राह्मणम् ।

यजुर्वेद सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थ

१—शतपथ ब्राह्मणम् ।

२ तैत्तिरीय ब्राह्मणम् ।

सामवेद सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थ

१ – ताण्ड्य महाब्राह्मणम् ।

२—दैवदत्त ब्राह्मणम् ।

३ - षड्विंश ब्राह्मणम् ।

४ - मन्त्र ब्राह्मणम् ।

५—जैमिनी उपनिषद् ब्राह्मणम् ।

६—जैमिनी आर्षेय ब्राह्मणम् ।

७—आर्षेय ब्राह्मणम् ।

८ - संहितोपनिषद् ।

९—वंश ब्राह्मणम् ।

१० सामविधान ब्राह्मणम् ।

अथर्ववेद सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थ

१—गोपथ ब्राह्मणम् । ❀

४ – आरण्यक—

इनसे आगे आरण्यक ग्रन्थ हैं—

आरण्य का अर्थ जंगल-सम्बन्धी है। अतः जो ग्रन्थ वन में रहने वाले वानप्रस्थियों ने बनाए या जिन को वे अपने वन-आश्रमों में पढ़ाया करते थे उनका नाम आरण्यक हो गया । ये ग्रन्थ आत्मा तथा ईश्वर सम्बन्धी गूढ़ विचारों से भरे पड़े हैं इनका सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से है.

❀विद्यार्थियों को इन सबके नाम कंठ करने जरूरी नहीं – आवश्यकतानुसार इनको देख लिया जा सकता है । हां प्रत्येक वेद के एक २ मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम अवश्य याद कर लेना चाहिये ।

कुछ तो इनके भाग ही हैं।

हम ब्राह्मणों का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। आरण्यक भी इस समय सारे नहीं मिलते। जो मिलते हैं उनके नाम नीचे दिये जाते हैं।

ऋग्वेद के आरण्यक

१ – ऐतरेयारण्यक।

२—शांखायनारण्यक।

यजुर्वेद सम्बन्धी आरण्यक

१ – तैत्तिरीयारण्यक।

२ – बृहदारण्यक।

५ – उपनिषद्,

"उपनिषद्" शब्द का अर्थ "पास बैठना" है। अर्थात् गुरु चरणों में बैठकर जो विद्या प्राप्त की जाए उसका नाम "उपनिषद्" है। वैसे तो उपनिषद् एक सौ से अधिक हैं, परन्तु ग्यारह प्रसिद्ध हैं।

१—"ईश"—यह यजुर्वेद का ४०वां अध्याय है। चूंकि इसका पाठ "ईश" शब्द से आरम्भ होता है इसलिये इसको "ईशोपनिषद्" का नाम दिया है।

२—"केन" 'केन' शब्द से आरम्भ होने के कारण इसका नाम "केनोपनिषद्" हो गया है। इसका असली नाम "तलवकार" है। यह सामवेद का उपनिषद् है।

३ – "कठ"—यजुर्वेद की एक शाखा 'कठ' पर इसका आधार है। इसलिये इसका नाम "कठोपनिषद्" हो गया है। यह भी यजुर्वेद का उपनिषद् है।

४ – "प्रश्न"—इसमें छः ऋषियों ने पिप्पलाद ऋषि के पास जाकर जो छः प्रश्न किये थे उनका वर्णन है, इसी कारण इसका नाम "प्रश्नोपनिषद्" हो गया है। यह अथर्ववेद का उपनिषद् है।

५—"मुण्डक"—उस्तरे की नाईं सारे संशयों को छील देने के

कारण इसका नाम मुण्डक हो गया है। यह अथर्ववेद का उपनिषद् है।

६—"माण्डूक्य"—इसका नाम ग्रन्थकर्ता के नाम पर पड़ा है। यह अथर्ववेद का उपनिषद् है।

७—"ऐतरेय"—इसका नाम भी ग्रन्थ कर्ता के नाम पर पड़ा है। यह ऋगवेद का उपनिषद् है।

८—"तैत्तिरीय"—तित्तिरि ऋषि की बनाई एक तैतिरीय शाखा है। यह ग्रन्थ उसी शाखा से निकाला गया है। इसलिये इसका नाम तैत्तिरीय रखा गया है। इसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है।

९—"बृहदारण्यक—यह आरण्यकों की गणना में भी आ चुका है। यह शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम और बृहद् भाग है। इसलिये इसका नाम बृहत् (आरण्यक) पड़ गया है। यह यजुर्वेद सम्बन्धी है।

१०—"छान्दोग्य",—यह छान्दोग्य ब्राह्मण से निकला हुआ है। अतः इसका नाम "छान्दोग्योपनिषद्" हो गया है।

११—श्वेताश्वतरोपनिषद्।

उपनिषद् 'ब्रह्म विद्या" के अद्वितीय ग्रन्थ हैं। विचार शील ईश्वर विश्वासी सारा जगत् इन पर मुग्ध है। औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह ने मोहित होकर इनका फारसी में अनुवाद करवाया था। संसार की अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद हो चुका है। जर्मनी के विख्यात फिलास्फर 'शोपनहार' ने तो इनको अपने जीवन और मरण-काल का शान्ति-स्रोत कहा है।

(६) दर्शन

दर्शन का अर्थ है, दिखाने वाला, शिक्षा देने वाला। चूंकि ये दर्शन हमें भिन्न २ पदार्थों का यथार्थ बोध कराने वाले और सांसारिक समस्याओं को समझाने और इन्हें सुलझाने में सहायक हैं, इसलिए इनका नाम "दर्शन" हो गया है। कई लोगों का यह ख्याल है कि ये दर्शन

परस्पर विरोधी हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। वेदों को स्वतः प्रमाण मानने वाले तथा अपवर्ग अर्थात् मोक्ष को अपना लक्ष्य रखने वाले ग्रन्थ कभी परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। हां, इन सबने अपने अपने दृष्टि-कोण से सृष्टि और जीवन की समस्या को दर्शाने तथा सुलझाने का यत्न किया है।

दर्शन गिनती में छः हैं:—

(१) वैशेषिक दर्शन—इसके बनाने वाले कणाद मुनि हो गुजरे हैं। इसमें 'विशेष' पदार्थ का निरूपण किया गया हैं। इसीलिये इसको 'वैशेषिक' नाम दिया है।

(२) न्याय दर्शन—इसके बनाने वाले 'गोतम' मुनि है। यह मन्तक (Logic) का दर्शन है। इसमें युक्ति द्वारा किसी बात को सिद्ध करने की रीति बताई गई है।

(३) सांख्य दर्शन—इसको बनाने वाले 'कपिल' मुनि हैं। इस दर्शन का उद्देश्य प्रकृति और पुरुष की विवेचना करके उनके अलग-अलग स्वरूप को और इनके परस्पर के सम्बन्ध को दिखा कर उस अवस्था का वर्णन करना है जब पुरुष प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(४) योग दर्शन— इसके बनाने वाले 'पतञ्जलि' मुनि हैं। इस दर्शन का परम उद्देश्य आत्मा और परमात्मा का साक्षात् दर्शन कराना है।

(५) उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त--यह व्यासमुनि कृत दर्शन है। इस दर्शन का उद्देश्य यह दिखाना है कि वेद का मुख्य लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है अर्थात् सारा ही वेद कहीं शुद्ध कहीं शबल और कहीं उपलक्षण रूप से परमात्मा का वर्णन करता है।

(६) पूर्व मीमांसा – 'जैमिनि' कृत है। इसमें यज्ञों का विधान है।

(७) श्रौत-स्मृति सूत्र ग्रन्थ

इनमें श्रुति तथा स्मृति विहित यज्ञों और संस्कारों का विधान हैं।

(८) स्मृति-शास्त्र—

वेदों के सार्वभौम नियमों का आश्रय लेकर समय समय पर तत्वदर्शी राजा तथा मुनि मुनीश्वर वर्णाश्रम धर्मों की व्याख्या तथा राज प्रबन्धादि कार्यों की व्यवस्था देते रहे हैं, इन्हें स्मृति शास्त्र कहा गया है। इन सब स्मृतियों में मनुस्मृति अधिक मान्य है : परन्तु इसमें भी जो बातें प्रक्षिप्त अथवा वेदविरुद्ध हैं वे मानने योग्य नहीं।

अन्य स्मृतियां भी मिलती हैं जिनमें नारद, देवल, पराशर अधिक प्रसिद्ध हैं।

गीता

प्रश्न—क्या गीता धर्म ग्रन्थ नहीं ?

उत्तर—गीता जैसी सर्वप्रिय पुस्तक कोई दूसरी नहीं। सभ्य जगत् की कोई ऐसी भाषा न होगी जिसमें इसका अनुवाद न हो चुका हो। गीता को उपनिषदों का निचोड़ कहा है। धर्म से सम्बन्ध रखने वाला कोई ऐसा विषय नहीं जिसका गीता में विवेचन न किया गया हो, और जहां तक हो सका है इसमें भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का सामञ्जस्य स्थापित करने का भी प्रयत्न किया गया है। फिर भी गीता को वह पद प्राप्त नहीं हुआ जो अन्य धर्मग्रन्थों को प्राप्त है। चूंकि गीता महाभारत का एक भाग है इसलिये धर्मशास्त्रों की दृष्टि से इसका वैसा ही स्थान है जैसा महाभारत का।

प्रश्न—और पुराण ? इनको तो सब प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ मानते हैं। क्या आप पुराणों को नहीं मानते ?

उत्तर—'ब्राह्मणों' के ही इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी-पांच नाम है, भागवत आदि के नहीं। ये १८ पुस्तकें जिनको साधारणतः पुराण कहा जाता है बहुत आधुनिक हैं, और इनमें ऐसी २ अश्लील और असम्भव कथायें आती हैं कि इनके रहते हुए पुराणों को धर्मग्रन्थ कहने में भी लज्जा आती है। ऐसा प्रतीत होताहै कि ये पुराण

वाममार्गियों के समय में बने अथवा वाममार्गियों ने इन्हें बनाया होगा। कम से कम इनमें वाममार्गियों का बहुंत सा हस्तक्षेप तो दिखाई देता है।

वाममार्ग

प्रश्न—"वाम मार्ग" का क्या अर्थ है ?

उत्तर—"वाम मार्ग" का शब्दार्थ है "उलटा रास्ता।" वाममार्गियों के धर्म सिद्धान्त और इनकी पूजा विधि जिसे वे "भैरवी चक्र" कहते हैं इतनी घृणायुक्त और लज्जास्पद है कि इनका यहां अधिक उल्लेख भी नहीं हो सकता। इन्होंने कुछ अपने धर्मग्रन्थ बनाये हुए है जिनको "तन्त्रग्रन्थ" कहा जाता है।

हम इनमें से कुछ श्लोक नीचे देते हैं जिनसे इनके कुव्यवहारों पर भली भांति प्रकाश पड़ता है।

१--मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रामैथुनमेव च।
एते पंच मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे॥

—(काली तन्त्र)

अर्थात्—युग युग में "म" से आरम्भ होने वाली पांच वस्तुएं मोक्ष देने वाली होती हैं—(१) मद्य शराब, (२) मांस, (३) मीन (मछली), (४)मुद्रा (टका) और (५) मैथुन (स्त्री भोग)।

२--प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः द्विजातयः।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक्-पृथक्॥

—कुलार्णव तन्त्र

अर्थात्—भैरवीचक्र में प्रवेश करने पर सारे वर्ण द्विज हो जाते हैं और जब भैरवी चक्र हट जाता है तो सारे वर्ण अलग २ हो जाते हैं। जो अपवित्र अथवा नीच वर्ण की स्त्रियां भी हैं वे भी भैरवी चक्र में आकर द्विज वर्ण हो जाती हैं अर्थात् ब्राह्मणादि के संसर्ग के योग्य बन जाती हैं।

(३) फिर कहा है—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

अर्थात्—शराब पिये, फिर पिये और जब तक पीकर जमीन पर गिर न जाये पीता रहे। फिर उठकर पिये। तब इसका पुनर्जन्म न होगा। यह है इनके मोक्ष का साधन।

प्रश्न—ये वाममार्गी तो वास्तव में बड़े धूर्त हैं परन्तु आप यह कैसे कहते हैं कि ये पुराण इन लोगों के बनाये हुए हैं ?

उत्तर यदि ऐसा न होता तो शिव पुराण के ४० वें अध्याय में जिसे [ज्ञान संहिता] का नाम दिया गया है, जो लांछन 'शिव' पर लगाये गये हैं और जो लांछन श्रीकृष्ण महाराज पर भागवत के दशम स्कन्ध में लगाये गये हैं वे कभी न लगाये जाते। इनको पढ़कर लज्जा के मारे सिर नीचा करना पड़ता है। यही नहीं, पुराणों में असंख्य असम्भव बातें भरी पड़ी हैं जो एक साधारण उपन्यास में भी स्थान पाने के योग्य नहीं। फिर इनको धर्म ग्रन्थ कैसे माना जाये ?

धर्म ग्रन्थों के विवेचन के पश्चात्, अब यह बताना है कि हमारे पूर्वजों ने वेदों की आज्ञा पालन करते हुए सामाजिक संगठन और मनुष्य की जीवन यात्रा के लिए क्या व्यवस्था स्थापित की है। इस सामाजिक संगठन को 'वर्ण' और जीवन यात्रा के लिए जीवन को चार भागों में विभक्त करके जो कर्म इनके लिये नियत किये गये हैं उन्हें 'आश्रम' और 'आश्रम-धर्म' कहा गया है। हम पहले 'वर्ण' को लेते हैं।

वर्ण

आर्य जाति चार हिस्सों में विभक्त है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। मनु ने इन चारों वर्णों के निम्न लिखित कर्म बताये हैं।

ब्राह्मण के कर्म—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
—मनु० १-८८।

अर्थ—पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, यज्ञ करना, दान देना और दान लेना ब्राह्मणों के कर्म कहे गये हैं।

क्षत्रिय के कर्म—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।
मनु० १-८९ ॥

अर्थ—प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों में आसक्त न होना—ये कर्म क्षत्रियों के हैं।

वैश्य के कर्म—पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
मनु० १-९०।

अर्थ—पशु पालना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, सूद पर रुपया चढ़ाना, (Banking) और खेती बाड़ी करना वैश्यों के कर्म हैं।

शूद्र के कर्म　एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥
मनु० १-९१।

अर्थ—शूद्र का मुख्य धर्म यह है कि निन्दा, ईर्षा, अभिमान आदि दोषों को छोड़कर इन तीनों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] की सेवा करे।

इसी प्रकार गीता में भी इन चारों वर्णों के कर्मों का विधान किया गया है, यथा—

ब्राह्मण के कर्म—शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
गीता, १८-४२।

अर्थ—ब्राह्मण के स्वभाव से प्रेरित कर्म ये होते हैं :—

१. शम—मन से बुरे काम की इच्छा भी न करना और शान्त रहना।

२. दम—इन्द्रियों को वश में रख कर सत्यमार्ग पर चलना।

३. तप—ब्रह्मचर्य रख कर तथा जितेन्द्रिय रह कर सत्य जीवन

व्यतीत करना।

४. शौच जलादि से शरीर की पवित्रता, सत्य से मन की, विद्या और तप से जीवात्मा की और बुद्धि से ज्ञान की वृद्धि करना।

५. क्षान्ति क्षमा, सहिष्णुता।

६. आर्जवम्—आर्जव [कोमलता, निरभिमानता, सरलतादि]।

७. ज्ञान—वेदादि शास्त्रों का ज्ञान (Spiritual knowledge)

८. विज्ञान—पदार्थों का पूर्ण ज्ञान (Worldly knowledge)

९. आस्तिक्यं —ईश्वर और वेद पर पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास।

इससे अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों की इन बातों की ओर स्वाभाविक रुचि होती है।

क्षत्रिय के कर्म—शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
गीता, १८-४३।

अर्थ - क्षत्रिय के स्वभाव से होने वाले कर्म ये हैंः—

१. शौर्य—शिष्टों की सहायता और दुष्टों के प्रतिरोध के लिए सैकड़ों से भी न डरना।

२. तेज—दीनता रहित होकर प्रगल्भ रहना।

३. धृति—धैर्यवान् होना।

४. दाक्ष्यं—चतुर होना।

५. युद्ध से न भागना—जिस तरह भी हो विजय प्राप्त करना।

६. दान देना।

७. ईश्वर भाव—(स्वामिभाव रखना अर्थात् प्रजा के साथ पुत्रवत् बर्ताव करना)।

वैश्य तथा शूद्र के कर्म—

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।
परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
गीता, १८-४४।

अर्थ—खेती, गौ आदि पशुओं की रक्षा और व्यापार करना वैश्यों का स्वाभाविक कर्म है और सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

प्रश्न इन वर्णों की स्थापना कैसे हुई? यजुर्वेद* में तो यह लिखा है कि ब्राह्मण परमात्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से, और पांव से शूद्र उत्पन्न हुए हैं।

उत्तर—जब परमात्मा निराकार है और उसके मुख, भुजा, जंघा आदि हैं ही नहीं तो इनमें से कोई वस्तु उत्पन्न कैसे हो सकती है। इस मन्त्र का अर्थ तो यह है कि जिस प्रकार शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियों का निवास स्थान सिर होता है उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण का पद है। भुजाओं में बल होता है, यही शस्त्र धारण करती है. यह सारे शरीर की रक्षा करती है इसीलिये क्षत्रियों का स्थान भुजा है। वैश्यों का स्थान उरू अर्थात् कटिस्थान से जानुओं तक है और शूद्रों का पांव है। पांव सारे शरीर को धारण किये रहते हैं, इसी प्रकार शूद्र सारी जाति की सेवा करते हैं और जिस प्रकार टांगों के बल से मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर अन्नादि कमाता है इसी प्रकार वैश्य का काम धनोपार्जन करना है। साथ ही जिस प्रकार पेट, भोजन लेकर इसका रस सारे शरीर में पहुंचाता है उसी प्रकार वैश्य अपने धन से बाकी वर्णों की पालना करता है।

प्रश्न तो वर्णों की स्थापना किस प्रकार हुई?

---

*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रोऽजायत॥

यजु० ३१-११॥

ब्राह्मण इस परमात्मा के मुख (अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों का स्थान शिर वा ज्ञान प्रसार का साधन मुंह) थे, क्षत्रिय इसके भुजा स्थानीय थे। वैश्य उसके उरू (कटि से जंघाओं तक का शरीर भाग) थे और शूद्र पादस्थानीय उत्पन्न किये गये।

उत्तर वर्णों की स्थापना गुण, कर्म और स्वभाव पर है। गीता में भी यही कहा गया है—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"—अर्थात् चारों वर्ण गुण और कर्म के विभाग से परमात्मा ने उत्पन्न किये हैं।

प्रश्न—तो क्या वर्णों की स्थापना में जन्म का कोई सम्बन्ध नहीं? जब ब्राह्मण के घर में कोई बालक उत्पन्न होता है, तो उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय के घर में जन्म लेने वाले को क्षत्रिय और इसी प्रकार वैश्य तथा शूद्र के घर जन्म लेने वाले को वैश्य और शूद्र कहा जाता है। इसलिये जन्म से ही वर्ण मानना ठीक मालूम होता है। यह तो हो सकता है कि पुण्य कर्मों के प्रताप से अगले जन्म में कोई ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय बन जाए परन्तु इस जन्म में तो जिसके घर में उत्पन्न हुआ वही उसका वर्ण होता है।

उत्तर परन्तु आपका व्यवहार तो आपके इस सिद्धान्त के विरुद्ध है। कोई किसी के बहकावट में आकर मुसलमान का पानी पी ले अथवा चोटी कटवा ले या कलमा पढ़ ले आप इसको बाहर निकाल देते हैं, फिर इसको अपने बर्तनों में भी भोजन नहीं देते। यह क्यों? इसका जन्म तो वही है। परन्तु सच कहा है कि जादू वह जो सिर पर चढ़ कर बोले। आप जिस सचाई का वाणीमात्र से खण्डन करते हैं उस पर प्रतिदिन स्वयं आचरण करते हैं।

प्रश्न—तो क्या फिर जन्म से वर्ण का कोई सम्बन्ध नहीं?

उत्तर – जन्म से तो केवल इतना संकेत होता है कि पूर्व जन्म के संस्कारों ने बालक को एक विशेष स्थान से जीवन यात्रा आरम्भ करने का अधिकारी बना दिया है। परन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि सुचारु रूप से यात्रा किये विना वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाएगा अथवा उस स्थान पर ही जिसके जन्म ने इसे अधिकारी बनाया है बना रहेगा। एक बालक को उसकी योग्यता देख कर एक श्रेणी में दाखिल कर लिया जाता है परन्तु यदि वह कुछ न

पढ़े तो उसे नीचे गिरा दिया जाता है। हां, यदि मन लगा कर पढ़े तो परीक्षा देने पर ऊंची श्रेणी में ले लिया जाता है।

प्रश्न—तो इसका तो यह अर्थ हुआ कि एक वर्ण का आदमी ऊंचे भी उठ सकता हैं और नीचे भी गिराया जा सकता है।

उत्तर - हां ऐसा तो होता ही है और होना भी चाहिये।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—देखिये मनुस्मृति में कहा है ❀ कि शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य पर भी लागू है।

आपस्तम्ब में भी कहा है ❀

"धर्म के करने से छोटे वर्ण का आदमी ऊंचे वर्ण में चला जाता है। इसी प्रकार अधर्म के करने पर ऊंचे वर्ण का आदमी नीचे वर्ण में चला जाता है।

प्रश्न —क्या कभी पहले ऐसा हुआ भी है।

उत्तर—हां हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में जावाल ऋषि की

❀शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्या तथैव च॥ मनु १०-६५

अर्थ—शूद्र (शूद्र कुलोत्पन्न) ब्राह्मण पदवी को प्राप्त हो जाता है और ब्राह्मण (ब्राह्मणकुलोत्पन्न) शूद्र पदवी को। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य (कुलोत्पन्न) को जाने।

❀धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ
— आपस्तम्ब सूत्र

अर्थ धर्म के करने से वर्ण का परिवर्तन हो जाता है जिससे छोटे वर्ण का उत्तम वर्ण को प्राप्त हो जाता है और अधर्म करने से उत्तम वर्ण का छोटे वर्ण में चला जाता है।

कथा आती है। वह अज्ञातकुल था तो भी उसे ब्राह्मण की पदवी मिली। विश्वामित्र एक क्षत्रिय राजा थे, तप करके ब्रह्मर्षि बने। मातंग चाण्डाल के कुल से ब्राह्मण हो गया, कवष एलूष दासी का पुत्र था परन्तु वेदज्ञाता ऋषि बना। चन्द्रगुप्त दासी मुरा का पुत्र, एक क्षत्रिय राजा बना।

प्रश्न—मनुष्य के गुण, कर्म तो बदल सकते हैं परन्तु स्वभाव तो नहीं बदलता। और आपने गीता के आधार पर बताया है कि सारे वर्णों के कर्म, स्वभावजन्य होते हैं। अतः जब स्वभाव नहीं बदल सकता तो मनुष्यों को उनके कर्मों का जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

उत्तर—इसमें सन्देह नहीं कि कर्मों पर स्वभाव का बड़ा प्रभाव पड़ता है परन्तु ऐसा भी नहीं कि स्वभाव बदलता न हो। विद्या से, संगति से, सदुपदेश से तथा विशेष साधनों से स्वभाव बदलता रहता है। हम देखते हैं क्रूरवृत्ति रखने वाले निर्दयी पुरुष कोमल हृदय, और दयावान् निर्दयी भी बन जाते हैं। इसके विपरीत जीवन में ऐसी घटनाएं आ जाती है कि देखते २ मनुष्य की काया पलट जातीहै। पुत्र की अकाल मृत्यु से, किसी महात्मा के सदुपदेश से अथवा किसी दूसरे के संकट को देखकर कभी-कभी दिल पर ऐसी चोट लगती है कि जीवन धारा का रुख ही बदल जाता है। एक उदाहरण लें। हम एक गेंद फैंकते हैं, यह हवा में उड़ती चली जाती है परन्तु यदि कोई दूसरी गेंद आकर इससे टकरा जावे तो इसका रुख बदल जाता है। यही हाल हमारे जीवन का है। जब कोई असाधारण घटना हो जाती है तो हमारी गति में परिवर्तन आ जाता है तो कर्मों से हमारा स्वभाव बदल जाता है और स्वभाव का प्रभाव कर्मों पर पड़ता है। कर्म किसी प्रकार भी बदलें, बदलते अवश्य हैं, इनके बदलने पर ही वर्ण बदल जाता है।

प्रश्न —वर्ण की स्थापना कब होती है और इसे कौन करता है ?

उत्तर—वैसे तो वर्ण परिवर्तन किसी समय भी हो सकता है परन्तु इसकी स्थापना विद्या की समाप्ति के समय अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश के समय होती थी। गुरु इसका निर्णय करता था और समाज तथा राजाज्ञा से उस पर अमल होता था।

प्रश्न—परन्तु यदि हम मान लें कि वर्ण जन्म से ही होता है तो क्या हानि है ?

उत्तर—इसमें तो बहुत सी हानियां हैं जिनका हमें प्रतिदिन प्रत्यक्ष हो रहा है। सुनिये :

१ —जब एक मनुष्य को यह विश्वास हो जाता है कि मुझे कोई मेरे पद से नहीं गिरा सकता तो वह स्वभावतः आलसी, प्रमादी, अभिमानी और आचारहीन हो जाता है। यही दशा हमें इस समय नामधारी बहुत से ब्राह्मणों की दिखाई दे रही है।

इसके विपरीत जब किसी को यह विश्वास हो जाता है कि उसके लिये उन्नति के सब दरवाजे बन्द हैं, वह कितना ही प्रयत्न करे ऊपर नहीं उठ सकता, तो वह हताश होकर आलसी और प्रमादी हो जाता है। यही दशा हमें इस समय अछूत जातियों की दिखाई दे रही है।

२ जब जन्म को ही वर्णस्थापना के लिये मुख्य कारण माना जाय और गुण कर्म को कोई स्थान न मिले तो प्रत्येक वर्ण में जातियों तथा उपजातियों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक होगा जैसा कि इस समय दिखाई दे रहा है।

३ शिल्प तथा व्यापार को बड़ी हानि पहुंचती है। एक ऊंचे वर्ण का आदमी दर्जी की दुकान पर नौकर तो हो जायगा परन्तु स्वयं दर्जी बनना पसन्द नहीं करेगा। न कोई रजक, लुहार या बढ़ई बनना, चमार बनना तो दूर की बात रही। उच्चवर्ण वालों ने तो समुद्र यात्रा करना भी धर्म के विरुद्ध समझ रक्खा है।

४ – यह जात पात शुद्धि के रास्ते में भी बाधक है। जब किसी बाहर वाले को शुद्ध किया जाता है तो यही प्रश्न होता है कि इसको किन में शामिल किया जाय। यह कङ्कर की तरह पेट में जाकर रड़कता रहता है और कुछ देर के पश्चात् किसी ना किसी तरह बाहर निकल जाता है।

विवाह का वर्णन

प्रश्न विवाह किस वर्ण में होना चाहिये ?

उत्तर—उत्तम विवाह तो सवर्णी ही होता है। परन्तु यदि ऊंचे वर्ण का पुरुष नीचे वर्ण की स्त्री से भी विवाह कर ले तो अधिक हानि नहीं। इसको "अनुलोम" विवाह कहा है। परन्तु छोटे वर्ण के पुरुष का उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह करना अच्छा नहीं। इसको "प्रतिलोम" विवाह कहा है। इस नियम का पालन अंग्रेज पशुओं के सम्बन्ध में करते हैं। बड़े-बड़े कीमती सांड घोड़े और बैल रखते हैं। गाय और घोड़ी का इतना विचार नहीं किया जाता। यदि घोड़े और साण्ड छोटे रक्खे जायें और घोड़ियां और गाएं बड़ी हों तो उनकी सन्तान बहुत ही निकृष्ट होगी।

ब्राह्मणों की उत्तमता

प्रश्न परन्तु ब्राह्मणों को ही इतनी उच्च पदवी क्यों दी गई। अन्य वर्णों के बिना भी तो समाज का संचालन नहीं हो सकता।

उत्तर यह सत्य है कि समाज के संचालन के लिये सब ही वर्ण आवश्यक हैं कोई भी सभा या समाज इनके बिना नहीं चल सकती। नाम चाहें कुछ ही रख लिया जाए परन्तु किसी व्यक्ति को समाज में मान का स्थान देने के लिये दो बातों का देखना आवश्यक होता है।

१ वह कार्य जो वह करता है किस किस्म का है।

२ – इसके करने के लिये कितने ज्ञान, त्याग, परिश्रम और तप

की जरूरत है, और किसने अपने उद्योग से उक्त गुणों का अधिक संग्रह किया है।

शूद्र में न अधिक ज्ञान होता है न तपस्या और न त्याग। पशुओं की तरह वह दूसरों का बोझ खैंचे फिरता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी समुदाय विशेष को अन्याय से दबा कर ऐसा काम लिया जाना चाहिये प्रत्युत जो ज्ञान शून्य हैं और जिनमें सेवा शुश्रूषा करने की ही योग्यता है वही शूद्र कहलाते हैं। वैश्य धन कमाते हैं, आप खाते हैं औरों को खिलाते हैं। धनोपार्जन करने की ही उनकी मुख्य योग्यता होती है, परन्तु वह इसे अपने लिये ही नहीं रखते बल्कि दूसरों के लिये खर्च कर देते हैं जो बड़ी बात है। अतः उनको अधिक मान का स्थान मिलता है। फिर भी यह द्विजों में सबसे निचले दर्जे पर हैं। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत में धन को कितने साधारण मान की दृष्टि से देखा जाता था। इनके ऊपर क्षत्रियों का पद है और गुणों के साथ क्षत्रियों से विशेष रूप से आशा थी कि वे विषयों में आसक्त न होंगे। विषयों में आसक्त न होना सबके लिये ही आवश्यक है परन्तु क्षत्रियों के लिये इस वास्ते अधिक जरूरी है कि प्रजा पालन का भार उनके कन्धों पर होता है। वे सब चौकीदार होते हैं। यदि वे विषयासक्त हो जाएं तो फिर प्रजा की रक्षा कौन करे। एक योद्धा के लिये शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेना इतना कठिन न होगा जितना कि अपनी इन्द्रियों पर। यह सबसे बड़ा कठिन तप है और सबसे बड़ी विजय है। इसलिये भी अर्थात् विषयों में आसक्त न होने के कारण क्षत्रियों को अधिक मान का पद मिला।

क्षत्रिय दूसरों के हित के लिये रणभूमि में अपने प्राणत्याग करता है। धन देना हाथ का मैल देना होता है, परन्तु जान देना, जिसके लिये मनुष्य इतने कुचक्र रचता है, बड़ी भारी बात है। इसलिये क्षत्रिय का पद वैश्य से ऊंचा है, परन्तु ब्राह्मण इन सब से ऊंचा है। वह तप स्वरूप है। जोश में आकर नक्कारों की आवाज से उन्मत्त

होकर रणभूमि में प्राण देना कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो परन्तु कठिन नहीं। दूसरी ओर सारी आयु विद्या उपलब्धि और परोपकार के लिये जीना, लाखों रुपये कमाने की योग्यता रखने पर भी निर्धनता का जीवन व्यतीत करना, सम्मान को विषतुल्य समझना, सारे द्वन्द्वों से अप्रभावित होकर एक तपोमय जीवन व्यतीत करना यह मनुष्यत्व की पराकाष्ठा है। ब्राह्मण एक स्वच्छ और निर्मल सरोवर की न्याई है। इस में पत्थर मारो जल वैसा ही स्वच्छ और निर्मल रहेगा। परन्तु क्षत्रिय उस निर्मल सरोवर के सदृश है जिसकी तह में कीचड़ है, पत्थर पड़ते ही यह कीचड़ ऊपर आकर सारे जल को गन्दला कर देता है। ब्राह्मण को कोई आपत्ति, संकट, कोई अपमान विचलित नहीं कर सकता, परन्तु एक क्षत्री छोटी सी बात पर बिगड़ बैठता है ब्राह्मण ने अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ली है। क्षत्री ने अभी करनी है। अतः ब्राह्मण का पद राजों महाराजों से भी ऊंचा है।

दलितोद्धार

प्रश्न – तो आपके कहने से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों को जो मान दिया जा रहा है वह ठीक है और अछूतों के साथ जो दुर्व्यवहार हो रहा है वह भी कोई अत्याचार नहीं। क्योंकि इनमें शूद्रों से भी कम योग्यता ज्ञान और तपस्या है।

उत्तर—ये दोनों ही बातें ठीक नहीं। जिसको आप ब्राह्मण समझे बैठे हैं ये वास्तव में ब्राह्मण नहीं और इनको जो मान दिया जा रहा है वह भी अनुचित हैं। इसी प्रकार अछूतों के साथ जो सलूक किया जा रहा है वह भी न्याय और शास्त्र के विरुद्ध है। हम यह नहीं कहते कि प्रत्येक अयोग्य अछूत का भी वही मान हो जो एक सच्चे ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय का हो सकता है बल्कि यह कि उनकी उन्नति के मार्ग में जो कृत्रिम और अनुचित बाधाएं खड़ी कर दी गई हैं उन्हें दूर कर दिया जाए और प्रयत्न इस बात का किया जाये कि विद्या और

संस्कारों से संस्कृत करके ऊंचे से ऊंचे पद तक पहुंचाने का रास्ता साफ हो जाए। वेद भगवान् तो कहते हैं कि वेदवाणी समान रूप से सारे वर्णों के लिये है। यहां तक कि चाण्डाल को भी इससे वंचित न रखा जाय*। फिर और अधिकारों का तो कहना ही क्या है। परन्तु हमने तो इनके लिए साधारण पाठशालाएं भी बन्द कर रखी है। वेद भगवान् कहते हैं कि हमारे खाने के और पानी पीने के स्थान एक हों। परन्तु हम तो इन्हें अपने कुओं और तालाबों से पानी भी भरने नहीं देते। यहां तक कि इन्हें अपने कुएं भी बनाने नहीं देते, इनको देवदर्शन की भी आज्ञा नहीं। भय यह रहता है कि पतित पावन, शुद्ध बुद्ध, मुक्त प्रभु इनके दृष्टिमात्र से अपवित्र न हो जाय। इनको सभा समाज में बैठने नहीं दिया जाता। पहाड़ों में तो यह बहू को डोले में भी नहीं ले जा सकते और न स्वयं घोड़े पर चढ़ सकते हैं। इनको कबरों में अपने मुर्दे भी उल्टे गाड़ने पड़ते हैं। कितना अत्याचार है!

जम्मू की रियासत में एक वशिष्ठ जाति है। यह बड़ी सुन्दर और स्वच्छ रहने वाली जाति है। खेती बाड़ी करना इसका काम है। न जाने इनके पूर्वजों में से किसी से क्या अपराध हो गया कि इनका

---

*यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय॥ यजु० २६-२॥

अर्थ—जिस तरह मैं इस कल्याणकारी वाणी का सब मनुष्यों ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और (आर्याय) वैश्य (स्वाय) अपने (अर्थात् आर्य जाति के अंग-भूत चारों वर्ण) और पराये (अर्थात् चारों वर्णों से इतर चाण्डालादि अथवा विदेशी) को उपदेश करता हूं वैसे ही तुम भी करो।

+समानी प्रपा सह वो अन्नभागः॥ अथर्व० ३-३०-६॥

अर्थ—हमारा जल पीने का स्थान एक हो और सम्मिलित होकर खाने का भी एक स्थान हो।

जाति बहिष्कार कर दिया गया और इनको अछूत बना दिया गया। जब लोगों से पूछा जाता है कि तुम इनमें क्या दोष देखते हो, क्यों इन्हें कुएं पर चढ़ने नहीं देते तो यही उत्तर मिलता है कि हमें तो कुछ मालूम नहीं। चिरकाल से ऐसा ही रिवाज चला आता है। जब आर्य-समाज ने इन्हें शुद्ध करके यज्ञोपवीत पहनाये तो जन्माभिमानी राजपूतों ने एक वृद्ध आदमी के गले से यज्ञोपवीत उतार कर लोहे की दान्ती आग में लाल करके जहां-जहां यज्ञोपवीत लगा था इसका शरीर यह कहते हुए जला दिया कि तू इस यज्ञोपवीत का अधिकारी नहीं है। क्या इससे बढ़कर और कोई दुष्टता हो सकती है ?

प्रश्न – आपने यह जो कुछ कहा वह तो ठीक है। परन्तु ये लोग अपवित्र हैं। चमड़े का काम करते हैं इन्हें किस तरह कुएं पर चढ़ने दिया जाए ?

उत्तर—परन्तु क्या मुसलमान कसाई, मुसलमान मोची आदि इनसे अधिक पवित्र रहते हैं ? वे तो कुएं पर चढ़ जाते हैं परन्तु इन्हें तुम चढ़ने नहीं देते। जब ये भी मुसलमान हो जायेंगे तो डण्डे के जोर से कुओं पर चढ़ जायेंगे। क्या उस समय वे अधिक पवित्र हो जायेंगे ?

उत्तर—अधिक पवित्र तो नहीं होंगे। रिवाज की बात है। हम तो यह चाहते हैं कि मुसलमानों को भी न चढ़ने दें।

समाधान—रिवाज तो मनुष्यकृत होते हैं। यदि आप मुसलमानों को नहीं रोक सकते तो इन्हें तो अपने कुओं से पानी भरने दे सकते हैं। पब्लिक के कुएं सबके लिए हैं इन पर किसी विशेष व्यक्ति का स्वत्व नहीं हो सकता।

प्रश्न – यह ठीक है परन्तु यदि हम उन्हें यह अधिकार दे भी दें तो मुसलमान नहीं मानते। वे लड़ने मरने के लिये तैयार हो जाते हैं।

उत्तर—यह तो आपकी अपनी कमजोरी है। मुसलमानों में तो छूतछात है ही नहीं। यदि आप इन्हें दिल से कुओं पर चढ़ाना चाहें

तो कोई नहीं रोक सकता। इस बात की पुष्टि में पंजाब हाई कोर्ट का फैसला भी हो चुका है परन्तु इस रोक से तो मुसलमानों का कुछ और अभीष्ट है।

प्रश्न वह क्या ?

उत्तर—मुसलमान यह चाहते हैं कि हिन्दू इन लोगों को कुओं पर चढ़ाने में सफल न हों। फिर प्यासे मरते ये हमारे पास आयेंगे और हम इनको मुसलमान बनाकर कुओं पर चढ़ा देंगे।

प्रश्न—ये मुर्दा जानवरों को खाते हैं, इसलिये इनसे घृणा आती है ?

उत्तर—और जीते हुए जानवरों को कौन खाता है ? सब ही मरी हुई लाश को खाते हैं। अब तो इन लोगों ने मांस खाना ही छोड़ दिया है। बात यह है कि हमने इन्हें दुरदुरा कर अपने से परे कर दिया है। अब ये स्वच्छ रहें तो किसके लिये ? यदि माता भी बच्चे की चार दिन बात न पूछे तो फिर देखें इसकी क्या दशा होती है। इन अछूत जातियों के सुधार की यही रीति है कि इनको प्रेम पूर्वक अपने पास बिठाया जाय, इनके पढ़ने लिखने का प्रबन्ध किया जाय, इनको शिल्प, व्यापार आदि धन्धों में लगाया जाय ताकि इनकी आर्थिक दशा सुधरे। इनको सारे सामाजिक अधिकार दे देने चाहियें ताकि ये जाति का एक सुदृढ़ अङ्ग बन जायं और इनके बाल बच्चे देश और जाति की प्रभुता और जाति के गौरव का कारण बनें। यदि ऐसा न हुआ तो ईसाई और मुसलमान इनको अपने में मिला लेंगे। इससे जितनी हानि होगी उसका सहज में ही अनुमान हो सकता है। हम पहले ही अपनी मूर्खता के कारण अपने करोड़ों भाइयों को खो चुके हैं। इस जागृति और स्वतन्त्रता के दिनों में भी और करोड़ों को खो रहे हैं। यदि यही दशा रही तो हिन्दू आर्यावर्त में भी नाम मात्र को रह जायेंगे।

शुद्धि

प्रश्न—हमने अपने करोड़ों भाई किस प्रकार खो दिये ?

उत्तर—क्या आपको मालूम नहीं कि अभी तक भी करोड़ों मुसलमान ऐसे हैं जिनका आचार व्यवहार हिन्दुओं जैसा है, जो गौ को हिन्दुओं की तरह माता समझते हैं, जिनके यहां अब भी ब्राह्मण विवाह कराने जाते है, जिनके नाम भी हिन्दुआना हैं बल्कि जो अपना धर्म पुस्तक भी वेद मानते हैं।

प्रश्न—हां ऐसा है तो सही परन्तु यह ज्ञात नहीं कि ऐसा क्यों है ? सैकड़ों वर्ष बीत गए परन्तु ये लोग फिर भी हिन्दुपन को क्यों अपनाए हुए हैं ?

उत्तर—बात यह है कि ये कभी हृदय से मुसलमान नहीं हुए और न अब हैं। किसी ने अत्याचार से बचने के लिये मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया, किसी के सम्बन्ध में दुश्मनों ने दुष्चर्चा फैला दी और बिरादरी ने इसे निकाल दिया। फिर सहानुभूति के कारण अथवा रोष में आकर इसके भाईबन्दों ने भी मुसलमान बनना स्वीकार कर लिया मुसलमान इनको कलमा पढ़ा कर छोड़ देते थे क्योंकि इनको पूर्ण विश्वास था कि हिन्दू अब इन्हें वापिस नहीं ले सकेंगे। यदि अब भी हिन्दू राजपूत, गूजर, और जाट अपने भाइयों को वापिस लेना चाहें तो लाखों की संख्या में ये लोग शुद्ध हो सकते हैं। जैसा कि आगरे, मथुरा के प्रान्त में मलकानों की शुद्धि ने सिद्ध कर दिया है। यदि उस समय रोक थाम हो जाती अथवा इन लोगों को फिर बिरादरी में मिला लिया जाता तो आज ये करोड़ों भाई हम से अलग दिखाई न देते परन्तु रोना तो यह है कि अभी तक भी आंखें नहीं खुलीं।

हम यहां एक रोचक कथा सुना देना चाहते हैं जो हमारे इस अभिप्राय को भली प्रकार समझने वाली होगी। कहते हैं कि एक चोर एक साहूकार की घोड़ी चुरा कर ले गया परन्तु पकड़ा गया। जब इसे

लाए तो साहूकार ने आश्चर्य से पूछा कि मैंने तो इतना प्रबन्ध किया था तू घोड़ी ले गया तो किस तरह ? चोर ने कहा, फिर इसे उसी तरह बांध दो और मुझे थोड़ी देर के लिये छोड़ दो फिर मैं बता दूंगा कि किस तरह घोड़ी निकाली थी। चुनांचे वैसा ही किया गया, लोग कौतूहल से साथ लगे हुए थे। चोर बताता जाता था—इस तरह दरबाजा उतारा, इस तरह घोड़ी की अगाड़ी पिछाड़ी खोली, इस तरह लगाम लगाया, इस तरह इस पर जीन कसी, इसी तरह इसे बाहर लाया, जब घोड़ी बाहर आई तो साहूकार ने पूछा कि फिर क्या किया, इस पर चोर कूद कर घोड़ी पर सवार हो गया और एक चाबुक मार कर घोड़ी को हवा करते हुए कहता गया, फिर इस तरह उड़ाकर ले गया। सारांश यह है कि सोते हुए यदि घोड़ी चुरा ली जाए तो आश्चर्य नहीं परन्तु जब जागते हुए सबके सामने चोर फिर हाथ पर हाथ मारकर घोड़ी उड़ा ले जाए उसका रोना जरूर होता है। दुनियां में सोते हुओं के तो घर लुटते हैं परन्तु जिनके जागने पर भी घर लुटते रहे उनसे बड़ा और कौन अभागा हो सकता है ?

प्रश्न—भला जो अपनी बिरादरी के लोग धर्म भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें तो वापिस लिया जा सकता है परन्तु जो असली मुसलमान या ईसाई शुद्ध होना चाहें तो उन्हें कहां रखा जाए ?

उत्तर ऐसे हैं कितने ? बाहर से तो थोड़े ही मुसलमान यहां आकर बसे थे। अफगानिस्तान आदि देशों से भी जो आकर यहां बसे हैं वे पहले हिन्दू ही थे। अधिकतर तो यहां के रहने वाले ही मुसलमान बने हैं। यदि इनको पूर्ण रूप से मिला लिया जाय तो दूसरों को मिलाने भी कोई कठिनाई न होगी। जब हमसे अपने ही भाईबन्द नहीं लिये जाते तो दूसरों को कैसे लिया जा सकता है।

हमने पहले यही बात तो कही थी कि इन छोटी-छोटी उपजातियों की उपस्थिति में शुद्धि का काम कठिन हो रहा है। हां यदि वर्ण-

व्यवस्था का आधार गुण, कर्म, स्वभाव पर हो तो फिर किसी को भी आसानी से शुद्ध किया जा सकता है।

प्रश्न—हिन्दू धर्म ने पहले तो कभी दूसरों को अपने धर्म में लाने का प्रयत्न नहीं किया। इस विषय में हिन्दू धर्म बड़ा महान् रहा है क्योंकि इसने अन्य धर्मों पर आक्रमण नहीं किया। यह तो अब अपनी संख्या बढ़ाने और राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से शुद्धि का आन्दोलन हो रहा है। इसमें पहले यह बात कभी सुनने में भी नहीं आई थी।

उत्तर - यह तो आपने सब ही भ्रममूलक बातें कही हैं।

जब हिन्दू धर्म अपने विशाल और सर्वग्राही रूप में था तब इसने इक्के दुक्के आदमियों का तो कहना ही क्या— बाहिर से आई हुई जातियों के लाखों मनुष्यों को इस प्रकार पचा लिया कि आज उनका कहीं नाम भी नहीं मिलता।

यवन (यूनानी) कुशान, हुष्क, हूण, सीथियन, मग, मैत्रिक और कम्बौज आदि जातियों के लोग भारत में बाहिर से आए और यहां ही खप गये। मुसलमानों से पहले किसी जाति की यह इच्छा नहीं हुई कि इस देश की सभ्यता को ग्रहण न करें। उन्होंने शासक होने पर भी यहां की सभ्यता और यहां के प्रचलित धर्म को ग्रहण किया और आर्य जाति में सम्मलित हो गए। परन्तु जिस जाति ने अपने आपको पृथक् रक्खा वे मुसलमान थे। वास्तव में मुसलमान आये ही इस्लाम फैलाने के लिये थे। वे किस प्रकार अपने व्यक्तित्व को खो सकते थे? यद्यपि आत्म-रक्षा के लिए हिन्दुओं ने मुसलमानों का एक रूप से बाईकाट कर रक्खा था तो भी समय समय पर ये पतितों को शुद्ध करते रहे, और बाहिर से आए हुए लोगों को भी अपने में मिलाते रहे। हम कुछ प्रमाण नीचे देते हैं:—

१—कण्व ऋषि मिसर से दस हजार मुसलमानों को लाए थे।

यहां लाकर उन्हें शुद्ध करके गुण, कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो में बांट दिया गया। — (भविष्य पुराण)

२—सिकन्दर के प्रधान सेनापति सैल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त मौर्य से किया।

३ —यूनानी राजा नीलण्डर भी आर्य बना।

४—हुष्क, जुष्क और कनिष्क तुर्क वंश से आर्य धर्म में आये।

५— ईरानी राजे नहपान, चष्ठन और दामजद भी आर्य बने।

६—तोरमान, मिहिरगुल, जो यहूदी राजा थे, आर्य बने।

७ राजा गंगासिंह ने बहुत से मुसलमानों को शुद्ध किया।

—(भविष्य पुराण)

८—अयोध्या में स्वामी रामानन्द ने बहुत से मुसलमानों को वैष्णव बनाया।

९—कांचीपुर में स्वामी निम्बादित्य ने मुसलमान शुद्ध किये।

१०—कबीर, चैतन्य आदि ने भी बहुत से मुसलमानों को आर्य बनाया। —'भविष्य पुराण

११—मरहठों ने पतित निम्बालकर को फिर से शुद्ध कर लिया था।

१२—सन् १८२० ई० में रामचन्द्र जोशी ने बहुत से ईसाई बने हुए हिन्दुओं को शुद्ध कर लिया था।

१३—कबीर भक्त को स्वामी रामानन्द ने शुद्ध किया था।

हां यह ठीक है कि हिन्दुओं ने तलवार लेकर किसी अन्य धर्म पर आक्रमण नहीं किया, परन्तु जिस चीज (धर्म) को वे सबसे प्यारा समझते थे उसे दूसरों के कल्याण के लिये देने से कभी संकोच नहीं किया। यह संकुचित भाव तो उस समय आया था जब हिन्दुओं को अपनी रक्षा के लिये सुकड़ कर एकान्त सेवी होना पड़ा था।

यह भी आपका भ्रम है कि राजनैतिक अधिकारों के लिये शुद्धि का यह आन्दोलन है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवनकाल

में कई आदमियों को शुद्ध किया। आर्य समाज आरम्भ से ही इस काम को करता चला आया है। उस समय तो कोई राजनैतिक आन्दोलन था। वास्तव में बात यह है कि मुसलमानों के दबाव के कारण हिन्दू कुछ दिन संकुचित अवस्था में रहे परन्तु अब जब कि यह दबाव हट गया है तो इनका विशाल हृदय फिर फैलने लगा हैं।

प्रश्न—किसी विधर्मी को शुद्ध करना ऐसा ही व्यर्थ मालूम होता है जैसा किसी गधे को साबुन से मल कर गाय बनाने की चेष्टा करना कभी गधा भी गाय बन सकता है ?

उत्तर—तो क्या गाय गधा बन सकती है ? हमें आश्चर्य होता है कि आप जैसे एक विचारशील पुरुष इस प्रकार की निरर्थक आपत्तियाँ कर रहे हैं। और गाय पशुओं की दो भिन्न २ जातियां हैं। क्या एक हिन्दू, ईसाई अथवा मुसलमान बनकर एक आदमी किसी जाति का पशु बन जाता है और मनुष्य नहीं रहता ? यदि रहता तो यह शंका कैसी ? इसमें तो इतनी ही बात है कि एक मनुष्य भूल से अथवा प्रलोभन के कारण एक और सम्प्रदाय का अनुयायी हो जाता है, जब उसको अपनी भूल का पता चलता है तो वह पश्चात्ताप करता हैं, प्रायश्चित्त करता है, आगे को सावधान रहने का वचन देता है, फिर क्यों उसे वापिस न ले लिया जाय ? क्या हम लोग हिन्दू रहते हुए बीसियों कुकर्म नहीं करते ? इन सब को तो समाज सहन करता हैं, परन्तु तनिक सी भूल के लिये इतना घोर दण्ड देने को उद्यत हो जाता है। यह तो एक प्रकार की आत्महत्या ही है। इसकी कौन प्रशंसा कर सकता है।

यहां तक हमने वर्णों का और प्रसंगानुसार विवाह दलितोद्धार और शुद्धि का वर्णन किया। अब हम आश्रमों का जो हमारी व्यक्तिगत जीवन-यात्रा में भिन्न रूप के कर्म क्षेत्र हैं वर्णन करते हैं।

आश्रम

जिस प्रकार आर्य जाति को चार हिस्सों में बांटा गया हैं उसी

प्रकार एक द्विज के जीवन को भी चार हिस्सों में विभक्त किया गया है, परन्तु इन दोनों विभागों में अन्तर है। वर्ण तो Division of labour के नियम पर बनाए गये हैं परन्तु आश्रम व्यक्तिगत जीवन का विकास है।

आश्रम चार हैं—

१—ब्रह्मचर्य, २—गृहस्थ, ३—वानप्रस्थ, ४—संन्यास।

इनमें से पहले तीन तो सभी द्विजों के लिये हैं परन्तु चतुर्थ विशेष करके ब्राह्मणों के लिये है अर्थात् जो गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण हो वह इस आश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। मनुष्य का साधारण जीवन १०० वर्ष का समझा जाता है। अतः प्रत्येक आश्रम के लिये २५ वर्ष रक्खे गये हैं।

ब्रह्मचर्य—२५ वर्ष की आयु तक।
गृहस्थ २५ से ५० वर्ष तक।
वानप्रस्थ—५० से ७५ तक।
संन्यास—७५ से १०० वर्ष तक अथवा मरण पर्यन्त।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है, इसका क्यों, कब तक और किस तरह पालन किया जाता है।

उत्तर—ब्रह्म शब्द के दो अर्थ हैं।

(१) वेद, (२) ईश्वर। अर्थात् ईश्वराज्ञा पालन करते हुए वेदाध्ययन करना ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है। परन्तु ईश्वरभक्ति और विद्याध्ययन के लिये इन्द्रिय निग्रह और वीर्यरक्षा परमावश्यक है, इसलिये अब इसका मुख्य अर्थ-विवाह न करके विद्याध्ययन हो गया है।

ब्रह्मचर्य का समय उपनयन संस्कार (इसका वर्णन आगे आयेगा) से आरम्भ करके विवाह काल तक है।

ब्रह्मचर्य केवल पुरुषों के लिये ही नहीं वरन् स्त्रियों के लिये भी इतना ही आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के तीन दर्जे हैं—

१ –पुरुषों के लिये २५ और स्त्रियों के लिय १६ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य सब से छोटे दर्जे का समझा जाता है और इन ब्रह्मचारियों को 'वसु' कहा जाता है।

२ –दूसरा दर्जा 'रुद्र' ब्रह्मचारियों का हैं। इसके लिये पुरुष की आयु की अवधि ४४ वर्ष और स्त्री को २२ वर्ष की रक्खी गई है।

३––सबसे ऊंचे दर्जे के 'आदित्य' ब्रह्मचारियों की आयु ४८ वर्ष की और ब्रह्मचारिणियों की २४ वर्ष की होती है। परन्तु जो कोई श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती की तरह सारी आयु ब्रह्मचारी रहते हैं उन्हें 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है।

छोटे से छोटे ब्रह्मचर्य के बिना धातुएं (शरीर के पुष्टि कारक तत्व) परिपक्व नहीं होती। और यदि इनमें कच्चापन रह जाए तो न केवल अपना शरीर ही निर्बल रह जाता है वरन् आगे को सन्तान भी निर्बल उत्पन्न होती है। वैद्यक में शरीरस्थ सात धातुएं मानी गई हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र J

सम्मिलित शिक्षा

प्रश्न—लड़के और लड़कियों को इकट्ठा पढ़ाना चाहिये अथवा अलग २ ?

उत्तर – अलग अलग।

प्रश्न वह क्यों ? इकट्ठा पढ़ाने में तो बड़े लाभ हैं।

शंका – वे कौन से लाभ हैं ?

समाधान देखें। प्रथम तो पढ़ाई का इतना खर्च बच जाता है एक ही अध्यापक लड़के और लड़कियों को पढ़ा सकता है।

२ -अध्यापिकाएं अच्छी नहीं मिलती। इस वास्ते पढ़ाई अच्छी नहीं होती। यदि पुरुष अध्यापक हों तो पढ़ाई अच्छी हो।

३ -लड़कियों के पास होने के कारण लड़के गाली आदि नहीं निकालेंगे। इनकी वाणी और चेष्टाएं शुद्ध हो जाएंगी।

४—बचपन से ही भिन्न २ जातियों अर्थात् मुसलमान, ईसाई, सिख और हिन्दुओं के बच्चों में परस्पर प्रेम उत्पन्न होगा। और जो विरोध प्रायः इनमें दिखाई देता है वह भी न रहेगा।

५ लड़कियों में भी लड़कों की तरह वीरता और साहस का भाव उत्पन्न होगा। वे भी पुरुषों की तरह अपने अधिकारों के लिए लड़ सकेंगी।

उत्तर ये सब बातें तो आपके ही विरुद्ध पड़ती हैं देखिए--

१—जब प्रत्येक बालक और बालिका के लिए अनिवार्य (लाजमी) शिक्षा हो तो पढ़ाने वालों को पर्याप्त छात्र अथवा छात्राएं मिल जाएंगी अतः संख्या पूरी करने का और खर्च की कमी का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा।

२—अध्यापिकाओं के न मिलने की बात पुरानी हो गई है। अब तो बड़ी योग्य (Graduate) स्त्रियां भी पर्याप्त संख्या में मिल जाती हैं। शनैः२ और भी मिलने लगेंगी। इस अन्तर में वृद्ध सुयोग्य अध्यापकों को रखा जा सकता है।

३ लड़कों की वाणी शुद्ध होगीया नहीं यह कहा नहीं जासकता। हां बालिकाओं की वाणी तो अवश्य अपवित्र हो जाएंगी। जहां गली मुहल्लों में लड़के लड़कियां इकट्ठे खेलते है वहां देखा गया है कि लड़कियां भी लड़कों की तरह बुरी २ गालियां निकालने लग जाती है यह आपका कल्पित लाभ तो निश्चत नहीं।

४—वीरता आयगी या नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता। हां लज्जा, कोमलता, सेवा और त्याग भाव जो सदा से नारियों में रहें हैं और जो इनके भूषण हैं उनका अवश्य अभाव हो जायगा। हमारी प्राचीन सभ्यता का आधार अपने २ धर्म पालन पर था। आजकल की पश्चिमी सभ्यता हमें कर्तव्यपरायणता के स्थान में अधिकारों के लिये लड़ना सिखाती है। जब एक मनुष्य पुत्र का धर्म पालन नहीं करता तो उसको पुत्र का अधिकार कहां मिल सकता है। इसी तरह जब

स्त्री अपना पत्नी धर्म नहीं पालती तो उसके कौन से अधिकार स्थापित होते हैं जिनके लिये वह लड़ेंगी । यह एक निर्विवाद सत्य है कि देश की लड़ाई भी वही लड़ सकेंगे जो पहले देश के प्रति अपने धर्म का पालन करेंगे ।

आपने, अपनी दृष्टि से, मिलकर पढ़नेके लाभों का तो ख्याल किया परन्तु जो इससे हानियां होंगी उनका भी तो विचार किया होता ?

प्रश्न वे कौन सी हानियां हैं । आप ही बता दें ।

उत्तर—सब से मुख्य बात तो यह है कि शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जो स्त्रियों को स्त्री और पुरुष को पुरुष बनाने वाली हो । आप यह तो जानते ही हैं कि परमात्मा ने स्त्री और पुरुष को भिन्न उद्देश्यों से बनाया है । यह बात इनकी शारीरिक बनावट से ही सिद्ध होती है । स्त्री ने पत्नी बनना है, माता बननाहैं, इसलिये आवश्यकहै कि वह घरमें रहकर पत्नी धर्म का तथा माता के धर्म का पालन करे । घर को सम्भालने का भार भी स्त्री पर ही पड़ताहैं । अतः इसकी शिक्षा प्रारम्भ से ही ऐसी होनी चाहिये कि जो इनके कर्तव्य के पालन में सहायक हो जैसे (Domestic Economy)-कौटुम्बिक, मितव्यता, शिशुपालन, प्रारम्भिक चिकित्सा, स्वच्छता आदि की शिक्षा इसे मिलनी चाहिये । इनकी शिक्षा के यही मुख्य अंग हैं और यह शिक्षा लड़कों के साथ मिलकर नहीं हो सकती । यदि कहा जाए कि इन विषयों के शिक्षण के लिये अलग प्रबन्ध कर दिया जाए तो फिर प्रश्न उसी खर्च का आएगा जिससे आप बचना चाहते थे ।

२—लड़के और लड़कियों के साथ पढ़ने से इनमें ऐसे कुसंस्कार और ऐसी कुचेष्टाएं पड़ जाएंगी कि इनके शरीर और मन का नाश कर देंगी और इनमें पुरुष और स्त्री का भाव समय से पहले उत्पन्न होकर इनके ब्रह्मचर्य को नष्ट करने का कारण बन जायगा ।

३--वर्तमान दशा में यह भी भय है कि मुसलमान लड़कों का हिन्दू लड़कियों से प्रेम हो जाय और वे अपने माता पिता की आज्ञा

के बिना ही उनके साथ विवाह करने के लिये उद्यत हो जाएं। इससे हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की बड़ी हानि होगी। परन्तु हिन्दू लड़के ऐसा नहीं कर सकेंगे क्योंकि प्रथम तो मुसलमान कन्याएं ऐसी सम्मिलित पाठशालाओं में आएंगी ही नहीं, दूसरे मुसलमान बीवी को हिंदू घरानों में स्थान नहीं मिलेगा। इसलिए ऐसी दशा में यह सम्भावना है कि हिन्दू लड़का ही मुसलमान हो जायगा। यह हिंदू धर्म और हिन्दू जाति की दृष्टि से बुरा है।

४—सम्मिलित स्कूलों में धर्मशिक्षा नहीं हो सकती। हां यदि केवल हिन्दू स्कूल हों तो यह अड़चन नहीं रहेगी।

५—अन्य देशों में भी जहां सम्मिलित शिक्षा का रिवाज है इसके बुरे परिणामों को अनुभव किया जा रहा है और इसका विरोध हो रहा है।

इसलिये जैसा कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने मनुष्य की प्रकृति को लक्ष्य में रखते हुए लिखा है वही ठीक है कि लड़के और लड़कियों की पाठशालाएं अलग-अलग हों। कन्याओं की पाठशाला का प्रबन्ध स्त्रियों और लड़कों की पाठशाला का प्रबन्ध पुरुषों के हाथ में हो। परन्तु सम्मिलित शिक्षा यदि आवश्यक ही समझी जाए तो भी १० वर्ष से अधिक आयु के बच्चों को कभी भी मिलकर पढ़ने नहीं देना चाहिए।

प्रश्न—क्या ब्रह्मचर्य का विद्याध्ययन के अतिरिक्त कुछ और भी लक्ष्य है।

उत्तर—ब्रह्मचर्य वास्तव में जीवन भवन की बुनियाद रखता है जिस मकान की बुनियाद मजबूत न हो उसके देर तक खड़ा रहने की आशा नहीं हो सकती। इसलिये ब्रह्मचर्य काल में बालक को बलवान्, सुदृढ़ांग, सदाचारी, सभ्य तपस्वी और विद्वान् बनाने का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिये।

प्रश्न—इसके लिये किन-किन साधनों का अवलम्बन करना होता है ?

उत्तर - प्राचीन प्रणाली में इसके लिये प्रथम साधन तो एक यह था कि सारे बालक – निर्धन और धनी – इकट्ठे पढ़ते और एक-जैसा ही साधारण जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार इनके हृदयों में सहानुभूति, परस्पर प्रेम और सहयोग का भाव उत्पन्न होता था और मत्सर, घृणा, अभिमान आदि बुरी भावनाओं का अंकुर भी मनमें उत्पन्न न होने पाता था। इसी संस्कार से प्रभावित होकर श्री कृष्ण महाराज ने अपने निर्धन सहपाठी सुदामा को छाती से लगाया था। समय-परिवर्तन से अब यह प्रथा यद्यपि कहीं-कहीं कुछ अंश के लिए दिखाई देती है परन्तु अपने पूर्व शुद्ध रूप में दिखाई नहीं देती।

२—दूसरा साधन ब्रह्मचारियों का जीवन कड़ा बनाना होता था। सबको नंगे पांव और नंगे शरीर रहना पड़ता था, केवल एक हलका सा वस्त्र धारण किया जाता था। गर्मी में छत्री लगाने की आज्ञा न थी, हर प्रकार की सवारी इनके लिये वर्जित थी, और इन्हें कठोर भूमि पर सोना होता था।

३—वीर्य रक्षा मुख्य साधन था। इसके लिये निम्नलिखित नियमों का पालन किया जाता था परन्तु इस पर तो अब भी आचरण किया जा सकता है।

(क) सादा भोजन, जिसमें मिरच, खटाई, मसाले न हों, उत्तेजक मादक वस्तुओं का परित्याग, जैसे चाय, शराब, भंग, तम्बाकू आदि का सेवन न करना।

(ख) कामोत्तेजक वस्तुओं का परित्याग जैसे सिनेमा देखना, तेल मलना और सुगन्धित पदार्थों का सेवन करना। कामोत्तेजक पुस्तकों के पढ़ने और कुत्सित चित्रों के देखने से बचे रहना।

(ग) अधिक निद्रा का परित्याग और दिन में न सोना, क्योंकि स्वप्नावस्था में पड़े रहना ब्रह्मचर्य के लिए हानिकारक है।

(घ) लंगोट तथा मेखला धारण किये रहना।

(च) आठ प्रकार का मैथुन त्याग देना अर्थात् स्त्रियों को देखना, इनका ध्यान करना, स्त्री सम्बन्धी बातें करना, स्त्रियों के चित्र देखना, स्त्रियों से बातें करना, इनका स्पर्श और सहवास करना इत्यादि ये सब ही स्त्रीसंग के सदृश त्याज्य हैं।

यह दुःख की बात है कि आजकल के नवयुवक इन सब ही बातों के अपराधी हैं। ये बनाव श्रृङ्गार में लगे रहते हैं। थियेटर अथवा टाकियों में जाकर अर्धनग्न स्त्रियों के चित्र देखते और गन्दे गीत सुनते हैं। इन टाकियों में अच्छे प्रसंग और अच्छे भाव भी होते हैं परन्तु अच्छी से अच्छी फिल्म को भी विषयी नवयुवकों की प्रसन्नता के लिये अर्धनग्न स्त्रियों के नृत्यादि से दूषित कर दिया जाता है। मन के लिये सदुपदेश का ग्रहण करना कठिन होता है क्योंकि इसका विवेक से सम्बन्ध होता है परन्तु बुरे दृश्यों का प्रभाव मन पर शीघ्र और गहरा पड़ता है और इनसे तत्काल ही मन को उत्तेजना मिलती है। यह लज्जा की बात है कि महानुभाव सज्जन भी अपनी पुत्रियों और पुत्रवधुओं को विना सोचे समझे ऐसे दूषित दृश्य दिखाने ले जाते हैं, और जब जीवन में इनके दुष्परिणाम निकलते हैं तो इन अबोध बालिकाओं पर रुष्ट होते हैं।

प्रश्न—तो क्या टाकियां सर्वथा त्याज्य हैं, इनका कोई लाभ नहीं?

उत्तर—न यह सर्वथा त्याज्य हैं, न हो ही सकती हैं। इनसे कुछ लाभ हुए भी हैं। जैसे राग का उन्नत होना, हिन्दी शब्दों का गान तथा बातचीत में प्रयोग और स्त्रियों में हिन्दूवेश के लिये रुचि। टाकियां शुद्ध और लाभकारी ज्ञान के प्रसार तथा भावों के संचार के लिए एक बड़ा उपयोगी साधन भी हो सकती हैं। परन्तु इस समय तो फिल्मों के बनाने वालों की एक मात्र यह आकांक्षा हैं कि किस तरह नवयुवकों के तृषित नेत्रों को तृप्त किया जाय। जब तक इसका पूर्ण

रूप से संशोधन नहीं होता इनसे लाभ के स्थान में हानि अधिक हो रही है।

कामदेव (Cupid) को मनसिज अथवा मन्मथ भी कहा गया है। इसका अर्थ है 'मन में जन्म लेने वाला' कामवासनाएं पहले मन में ही जन्म लेती हैं। फिर इनके अन्य विकास होते हैं यदि इनका जन्म ही होने न दिया जाय अर्थात् मन की वृत्तियों को शुद्ध और पवित्र रखकर दूसरी ओर लगाए रक्खा जाय तो काम वासनाएं मन में प्रवेश ही न कर सकें। ऐसा नवयुवक अनायास ही ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

प्रश्न ऊर्ध्वरेता किसे कहते हैं ?

उत्तर—इसके शब्दार्थ 'ऊपर वीर्यवाला" के हैं।

वीर्य का सम्बन्ध शरीर के साथ वही है जो तेल का लैम्प के साथ अथवा Lubricatnigoil का मशीन के साथ होता है। जिस प्रकार तेल के कम हो जाने पर लैम्प की ज्योति कम हो जाती है और खत्म हो जाने पर लैम्प बुझ जाता है इसी प्रकार वीर्य की कमी के कारण मनुष्य निर्बल, निस्तेज, निरुत्साही हो जाता है और शनैः शनैः अकाल मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जिस प्रकार Lubricating Oil के न मिलने से मशीनरी के पुरजों में रगड़ उत्पन्न होकर पुरजे घिस जाते हैं, अच्छी तरह काम नहीं करते और अन्त में टूट फूट जाते हैं, यही हाल वीर्यहीन पुरुष के शरीर का होता है।

वीर्य के दो काम हैं। एक सन्तान उत्पन्न करना, दूसरा सारे शरीर की मशीनरी को Lubricate अथवा चिकना करना, विशेष करके दिमाग को पुष्ट करना। वीर्य का अधोभाग में जाकर सन्तति का कारण बनना अथवा स्वप्नदोष में निष्फल जाना "नीचे की गति वाला" होना कहलाता है। परन्तु इसका शरीर की विशेषतः दिमाग की, पुष्टि के लिये ऊपर जाना, "ऊर्ध्वरेता" होना कहलाता है।

ऊर्ध्वरेता होने के दो मुख्य साधन हैं। एक दिमागी काम करना, दूसरा व्यायाम करना। जो लोग दिमागी काम करते हैं एक तो उनकी

मनोवृत्ति ठीक रहती है, दूसरे वीर्य दिमाग में खर्च होता रहता हैं और इसकी अधोगति नहीं होती। व्यायाम में भी शरीर को वीर्य की अधिक आवश्यकता होती है। चुनांचे पहलवान इसका बड़ा ध्यान रखते हैं।

एक सज्जन से जो एक बड़े सरकारी पद पर नियुक्त थे और जिन्होंने बड़ी आयु तक विवाह नहीं किया था जब उनके एक मित्र ने पूछा कि आप कब विवाह करायेंगे, तो उन्होंने कहा कि मुझे तो इसकी इच्छा ही नहीं होती और न सिवाय अपने काम के अन्य किसी चीज के विचार करने का अवकाश ही मिलता है। जब नैपोलियन बोनापार्ट पर किसी ने विषयासक्त होने का दोषारोपण किया तो उसने अपना चौबीस घण्टे का प्रोग्राम सामने रखकर पूछा, "बताइये वह कौन सा समय है जिसमें मैं विषयों का चिन्तन भी कर सकता हूं।" अतः ब्रह्मचारी का तो यही धर्म है कि वह ऊर्ध्वरेता हो। वीर्य शरीर में बड़ी कठिनाई से और बहुत थोड़ी मात्रा में तैयार होता है। अनुमान किया गया है कि साठ बिन्दु रक्त का एक बिन्दु वीर्य बनता है। अतः एक बिन्दु वीर्य की हानि का अर्थ ६० बिन्दु रक्त की हानि हैं।

प्रश्न—वीर्य रक्षा के क्या साधन हैं ?

उत्तर—इनको संक्षेप रूप से पहले बता आए हैं। कुछ बातों का और जिक्र कर देते हैं।

सबसे बड़ी और प्रथम बात तो यह है कि वीर्य के महत्त्व का नवयुवकों को ज्ञान हो। नवयुवक चेहरों पर तेल और क्रीम मल कर सुन्दर बनना चाहते हैं। परन्तु इससे क्या लाभ? यह तो अपने आपको और दूसरों को धोखा देना है। जो वास्तविक कान्ति देने वाली चीज हैं वह तो वीर्य है। इससे आंखों में ज्योति, चेहरे पर तेज, भुजाओं में बल और शरीर में दृढ़ता और फुर्ती आती है। बुद्धि निर्मल होती है, बारीक बात आसानी से समझ में आ जाती है और धारणा शक्ति

बढ़ती है यही कारण था कि प्राचीन काल में जब कोई आदमी किसी ऋषि के पास कोई गूढ़ तत्व सीखने जाता था तो उसे कुछ समय आश्रम में ब्रह्मचर्य रखकर रहने की आज्ञा दी जाती थी। इसी अभि-प्राय से जब छः वेदवेत्ता ब्राह्मण पिप्पलाद ऋषि के पास अपने प्रश्न लेकर गए (जिनका वर्णन प्रश्नोपनिषद् में किया गया है) तो उन्हें एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने के लिए कहा गया। फिर उनके प्रश्नों का उत्तर दिया गया। ब्रह्मचर्य और तप से तो विद्वान् लोग मृत्यु पर काबू पा लेते हैं॥। ब्रह्मचर्य से आयु लम्बी होती है। यही कारण था कि महाभारत के समय भीष्म पितामह की आयु १७० वर्ष की थी। ब्रह्मचर्य से शरीर वज्रवत् कठोर हो जाता हैं। यही कारण है कि हनुमान् जी को वज्राङ्गी कहा गया है। श्री स्वामी दयानन्द जी इस ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही इतने मेधावी, इतने निर्भीक, इतने तेजस्वी और बलधारी थे। अतः ऊर्ध्वरेता होने के लिये पहली बात तो यह है कि पिता तथा आचार्य कुमारावस्था में ही बच्चों के हृदय पर ब्रह्मचर्य की महानता को अंकित कर दें। बच्चा जब तक पैसे के महत्व को नहीं समझता इसे रोड़े कंकर की तरह फैंक देता है। परन्तु जब उसे ज्ञान होता है कि इससे तो कोई चीज खरीदी जा सकती है तो इसे बटवे में सम्भाल कर रखने लगता है, इसे अपने भाई बहनों को भी नहीं देता और यदि कोई ले ले तो लड़ने लगता है। इसी प्रकार बच्चों को ब्रह्मचर्य की कीमत मालूम होनी चाहिये। यही कारण है कि हमने इस विषय पर इतने विस्तार से लिखने का साहस किया है। यदि इससे नवयुवक प्रभावित होकर ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करें तो मै अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

दूसरी बात तो यहहै कि चूंकि ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध मनके संकल्पों

॥ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत।

अर्थ— ब्रह्मचर्य रूपी तप से देवताओं ने मृत्यु पर विजय पाई।

से है इसलिये अपने मानसिक संकल्पों की पवित्रता के लिए इन छः अति सुन्दर और सारगर्भित वेद मन्त्रों का विचार अर्थ सहित, विशेष कर सोने से पहिले करना चाहिये। यह बड़ा लाभकारी होगा—इन मन्त्रों को कंठ कर लेना चाहिये।

मन्त्र ये हैं—

१— यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
यजुः ३४—१

अर्थ—हे भगवन, आप की कृपा से, मेरे उस मन के जो दूर-दूर जाने वाला और ज्योतियों अर्थात् सारे पदार्थों के प्रकाशक इन्द्रियों का भी एक ज्योति (प्रकाशक) है, जो जागते हुए और उसी तरह सोते हुए भी दूर-दूर भागता रहता है, उस मेरे मन के संकल्प पवित्र हों।

२—येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥
यजुः ३४-२

अर्थ – जिनके द्वारा (अपसः) सत्कर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मनस्वी अर्थात् मन को वश में रखने वाले धैर्यवान् पुरुष यज्ञों (इष्टापूर्त) में तथा (विदथेषु) वैज्ञानिक अथवा युद्धादि व्यवहारों में शुभ कर्म करते हैं और जो प्राणियों के अन्दर एक (अपूर्व) अद्भुत यक्ष है उस मेरे मन के, हे परमात्मन्, संकल्प पवित्र हों।

३—यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनःशिवसंकल्पमस्तु॥
यजुः ३४-३

अर्थ—जो (प्रज्ञान) बुद्धि उत्पादक (चेतः) स्मृतिवर्द्धक(धृतिः) धैर्य उत्पन्न करने वाला, जो प्राणियों में अमर ज्योति है, और जिसके विना कोई कर्म नहीं किया जा सकता, उस मेरे मन के संकल्प शुद्ध हों।

४—येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता: तन्मे मनःशिवसंकल्पमस्तु ।
यजुः ३४-४

अर्थ—जिस इस अमर शक्ति से सब भूत वर्तमान और भविष्यत् जाना जाता है, जिसकी सहायतासे सप्तहोता (इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण) काम करते हैं, हे परमात्मन् ! मेरे उस मन के संकल्प शुद्ध हों।

५—यस्मिन्नृचःसाम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठितारथनाभाविवाराः
यस्मिंश्चितं सर्व मोतं प्रजानां तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ।
यजुः ३४-५

अर्थ—जिसमें ऋक् यजु सामवेद आदि इस तरह स्थित हैं जिस तरह रथ की नाभि में आरे होते हैं और जिसमें सारे प्राणियों के चित्त परोए हुए हैं उस मेरे मन के संकल्प शुभ हों ।

६—सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव
हृत्प्रति ठं यदजिरं जविष्ठं त मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।
यजुः ३४-६

अर्थ जिस तरह एक अच्छा सारथी (अभीशुभिः) बागों से घोड़े तेज ले जाता है इसी तरह यह मन मनुष्यों को चलाने वाला है। यह हृदय स्थान में ठहरा हुआ है और जरा-रहित हैं (मन की कामनाएं कभी बूढ़ी नहीं होती) और द्रुतगामी है। हे भगवन् ! मेरे इस मन के संकल्प पवित्र हों।

३—और जिस समय स्वप्न आने लगे उसी समय उठ खड़े होना चाहिये। इसी लिये ब्रह्मचारियों के लिये ब्रह्ममहूर्त में उठ कर शौच, दन्तधावन, स्नान, व्यायाम तथा ईश्वरउपासनादि आवश्यक कर्म बताए गए हैं। यह दुःख की बात है कि पश्चिमी लोगों का अनुकरण करते हुए हमारे नवयुवक रात को देर तक जागते रहते हैं और दिन चढ़े उठते हैं। यह स्वास्थ्य के नियमों के विरुद्ध है। जल्दी

सो जाना चाहिये और ब्रह्ममहूर्त में उठना चाहिये। जिस के सोते हुए सूर्य उदय हो जाता है उसे शास्त्रों में बड़ा पापी बताया गया है।

४—भोजन सादा और थोड़ा और अच्छी तरह चबा कर खाना चाहिये। सोने से कम से कम तीन घण्टे पहले खा लेना चाहिये। इस से नींद अच्छी आयगी और स्वप्नदोष भी नहीं होगा। अधिक खाना—विशेष कर रात के समय—हानिकारक है।

५—कौपीनधारी रहना चाहिये।

अब दूसरे आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम का वर्णन करते हैं—

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर समावर्त्तन होता है अर्थात् इसमें ब्रह्मचारी अपने गुण कर्मानुसार किसी ब्रह्मचारिणी विदुषी गुणवती कन्या के साथ विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है।

प्रश्न—विवाह किस "वर्ण" में होना चाहिये?

उत्तर–इस पर तो हम पहले ही 'वर्ण" प्रकरण में आलोचना कर आए हैं। संक्षेप से इसे फिर दोहरा देते हैं। सबसे प्रशस्त विवाह अपने ही वर्ण में होता है ❀। क्योंकि यहां ही गुण-कर्म स्वभाव पूर्णतः मिलते हैं। हां, यदि आवश्यक हो तो पुरुष अपने से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है। इसे अनुलोम विवाह कहते हैं। परन्तु इससे उलटा नहीं होना चाहिये अर्थात् ऊंचे वर्ण की कन्या से विवाह नहीं होना चाहिये। इस विवाह को प्रतिलोम विवाह कहा जाता है।

❀गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् मनु ३—४

अर्थ—गुरु की आज्ञा लेकर स्नातक बनकर और यथाविधि समावर्त्तन संस्कार करके, द्विज को चाहिए कि लक्षण युक्त अर्थात् अपने अनुकूल लक्षणों वाली, सवर्ण कन्या के साथ विवाह करे।

प्रश्न—जब ब्रह्मचर्य की इतनी महिमा है तो विवाह ही क्यों किया जाय ?

उत्तर—यदि सारे ही विवाह न करें तो सन्तान कहां से हो ? इस तरह से तो मनुष्य-समाज की ही समाप्ति हो जाय, फिर ब्रह्मचर्य रखने वाले भी कहां से आयेंगे। साथ ही गृहस्थाश्रम पर बाकी तीनों आश्रमों के पालन-पोषण का भी भार होता है, इसलिए गृहस्थाश्रम की बड़ी महिमा वर्णित है।

चुनांचे मनु जी ने कहा है कि जैसे सारे नदी और नद जाकर समुद्र में सहारा पाते हैं, उसी प्रकार सारे आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय पर रहते हैं ❀

और जिस तरह सारे जीव जन्तु वायु के आधार पर रहते हैं, इसी तरह गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर सारे आश्रम जीते हैं+ चूंकि गृहस्थी ही दान और अन्न से प्रतिदिन तीनों आश्रमों की पालना करता है, इसीलिए गृहस्थाश्रम ज्येष्ठ है।×

प्रश्न—विवाह किस आयु में होना चाहिये ? आप कहते हैं कि पुरुष का कम से कम २५ वर्ष की आयु में और स्त्री का १६ वर्ष की आयु में विवाह होना चाहिये, परन्तु शास्त्रों में तो लिखा है कि रजस्वला होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिये, नहीं तो माता-पिता और सारे सम्बन्धियों को पाप लगता है।✵

❀यथा नदी नदा सर्वे सागरे यांति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ मनु० ६-९०

+यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तंते सर्व आश्रमाः। (मनु०३। ७७)

×यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ (मनु० ३।७८)

✵अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।

उत्तर - यह तो सर्वथा निरर्थक बात है। धन्वन्तरि जी वैद्यक के विख्यात ग्रन्थ सुश्रुत में इस बात का निषेध करते हैं। वह लिखते हैं+ कि यदि पुरुष २५ वर्ष से और स्त्री १६ वर्ष से कम होगी और गर्भ-स्थिति हो जायगी तो परिणाम यह होगा कि या तो यह गर्भ समय से पहले गिर जायगा परन्तु यदि पूर्ण काल के पश्चात् भी बच्चा उत्पन्न हुआ तो वह चिरकाल नहीं जिएगा। और यदि जीया भी तो दुर्बल अङ्गों वाला होगा। इसलिये छोटी बालिका में अर्थात् १६ वर्ष से कम आयु वाली कन्या में गर्भाधान नहीं होना चाहिए।

रही रजस्वला होने से पहले विवाह करने की बात, यह भी शास्त्र' विहित मर्यादा नहीं। किसी ने मुसलमानों के समय में जब कुमारी कन्याएं सुरक्षित नहीं थी ऐसा श्लोक रच लिया होगा। देखो मनुस्मृति में लिखा है कि कन्या रजस्वला होने के पश्चात् तीन वर्ष तक इन्तजार करे, फिर अपने योग्य पति को प्राप्त हो*। चूंकि तीन वर्ष

दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥ पराशरी०

माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ठ्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ ब्रह्मपुराण

अर्थ – बालिका की आठवें वर्ष गौरी, नवें वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या और उससे आगे रजस्वला संज्ञा होती है।

उस रजस्वला को देखकर माता-पिता, भाई और बहन सब नरक को जाते हैं।

+ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः संविपद्यते।
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

सुश्रुत शारीरस्थान अ० १७ श्लो० ४७-४८

*त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।

तक रज परिपक्व नहीं होता इसलिये यह अवधि लगाई गई है। बल्कि मनु महाराज ने तो यहां तक चाहा है कि चाहे सारी आयु ऋतुमती रह कर कन्या मर जाए परन्तु पिता को चाहिये किसी गुणहीन के साथ उसका विवाह न करे+ ।

प्रश्न - यदि अपने ही वर्ण में विवाह करना है तो क्या अपने चचेरे भाई की अथवा मामे की लड़की से विवाह कर लेना चाहिये जैसा कि मुसलमान अथवा ईसाई करते हैं।

उत्तर – कदापि नहीं। देखिये मनु महाराज कहते हैं कि कन्या असपिण्डी अर्थात् माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो वही विवाह योग्य है ❋

और यह नियम हमें सारे ही जीवधारियों में काम करता दिखाई देता है जब साण्ड घोड़े एक स्थान में कुछ वर्ष रह चुकते हैं तो इन्हें बदल दिया जाता है ताकि ये अपनी सन्तान में सन्तान उत्पन्न न करें। उसी खून के बार-बार मिलने से सन्तान निर्बल व गुणहीन पैदा होती

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ मनु० ९ । ९०

अर्थ—कुमारी ऋतुमती होकर तीन वर्ष तक प्रतीक्षा (इन्तजार) करे फिर इस समय के गुजर जाने पर अपने सदृश (जो गुण कर्म स्वभाव में उससे मिलता हो) पति को प्राप्त करे।

+काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥मनु० ९।८९

अर्थ—चाहे ऋतुमती होने पर मृत्यु काल तक घर में रहे (रहने पर बाध्य हो) परन्तु माता पिता इसका गुणहीन (जिसके गुण कन्या से न मिलते हों) के साथ भी कभी विवाह न करें।

❋असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने। मनु० ३ । ५

है। जैसे उसी खेत का बीज बार-बार उसी खेत में डालने से दाना पतला और उपज कम हो जाती है। आश्चर्य है कि अंग्रेज आदि पश्चिम निवासियों ने इस नियम को मनुष्यों के विषय में क्यों नहीं बरता।

और तो क्या, हमारा "दुहिता" शब्द ही इस भाव को जाहिर करने वाला है। दुहिता का अर्थ हैं दूर तक हित ले जाने वाली। इस वास्ते न केवल पिण्ड और गोत्र को ही बचाना चाहिये बल्कि विवाह दूर देश में करना चाहिए। उसी नगर में अथवा निकट के नगर में विवाह करने के अनेक दोष हैं।

प्रश्न क्या कुल के देखने में किसी और बात का भी विचार करना चाहिये ?

उत्तर--हां, इसके लिये मुख्यतः चार बातों का विचार करना उचित है अर्थात् निम्नलिखित चार कुलों से बचना चाहिये :—

१ जिस कुल में धार्मिक क्रिया न होती हो अर्थात् जो अपने शुभ कर्मों और मर्यादा के कारण ख्याति न रखता हो। अभिप्राय यह है कि सभ्य कुल में विवाह करना चाहिये।

२—जिस कुल में महान् पुरुष न हों अथवा जिसमें पौरुष न हो।

३—जिसमें वेदों को स्थान न हो।

४—जिसमें बवासीर, तपेदिक, दमा, मिरगी, कुष्ठादि पुश्तैनी रोग हों।

आजकल सम्बन्ध करते समय धन को और सांसारिक सम्पत्ति को सबसे अधिक स्थान दिया जाता है, परन्तु पूर्व काल में इसका कोई स्थान न था, केवल आचार और स्वस्थ शरीर को अर्थात् मनुष्यत्व को देखा जाता था। इस धन की लालसा के कारण आजकल परम श्रेष्ठ विद्वान् और सदाचारी मनुष्यों को अपनी कन्याओं का विवाह करना कठिन हो गयाहै। स्थान-स्थान पर कन्याओं ने अपने माता पिता को इस संकट से मुक्त करने के लिए आत्महत्या कर ली है। इस ओर

संशोधन की बड़ी आवश्यकता है जिसमें लड़के और लड़कियों को पूरा भाग लेना चाहिये ।

प्रश्न—विवाह करना माता-पिता के आधीन होना चाहिये अथवा लड़के-लड़की के ।

उत्तर—जब लड़का और लड़की पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होकर विद्वान् और विचारशील हो जाएं तो विवाह के निश्चय करने वाले तो वे स्वयं ही होने चाहियें,हां परम हितैषी और दुनियां की ऊंच नीच देखे हुए होने के कारण यदि माता-पिता की अनुमति हो तो और भी अच्छा है । युवावस्था में प्रायः मनुष्य बाहर के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है और न आभ्यन्तरिक गुणों के जानने का यत्न करता है और न इनको इस समय जान ही सकता है । यही कारण है कि यूरोप आदि देशों में इतनी Courtship होने पर भी तलाकों की बड़ी भरमार है ।

प्रश्न स्त्री और पुरुष का परस्पर क्या सम्बन्ध होना चाहिये । इनमें से घर में किसका आधिपत्य हो?

उत्तर —संस्कृत में विवाहिता स्त्री और पुरुष के लिये पत्नी और पति के शब्द आते हैं । यह दोनों एक ही धातु (Root) 'पा" से बने हैं जिसका अर्थ है, "रक्षा करना" अथवा शासन करना । अतः पति पत्नी की और पत्नी पति की रक्षा करने वाली है । इनका समान पद और समान अधिकार है । स्त्री को "अर्धाङ्गिनी" भी कहा गया है अर्थात् स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर एक शरीर बनते हैं जिसमें स्त्री का आधा भाग होता है । वैदिक धर्म में कोई यज्ञ, कोई शुभ कार्य नहीं हो सकता जिसमें पति पत्नी दोनों इकट्ठे मिल कर भाग न ले । जब सीताजी उपस्थित नहीं थी तो इनकी स्वर्ण मूर्ति बनाकर श्री रामचन्द्र जी ने राजसूय यज्ञ किया था । स्त्री को इतना ऊंचा पद वैदिक धर्म से ही मिला है । मनु भगवान् ने तो यहाँ तक कहा है कि जहां स्त्रियों

की पूजा (आदर, सत्कार) होता है वहां देवताओं का निवास होता है और जहां इनका अपमान होता है वहां सारी ही क्रियाएं निष्फल होती हैं। देखो मनु—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ मनु० ३-५६

परन्तु स्त्री ने अपना धर्म पालन करने के भाव से घर की स्वामिनी बनना और अधिक अनुभवी, जीवन की सामग्री उपार्जन करने वाला होने के कारण अपने पति की मति के अनुकूल चलना स्वीकार किया हुआ है।

प्रश्न—यदि किसी की स्त्री मर जाय अथवा किसी स्त्री का पति मर जाए तो उसे क्या करना चाहिए ?

उत्तर – ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। विवाह नहीं करना चाहिये।

प्रश्न – यदि स्त्री विना सन्तान हो, उसके पति का कोई उत्तराधिकारी भी न हो और वह हो भी 'अक्षत योनि' अर्थात् उसने अपने पति का सहवास भी न किया हो, तब ?

उत्तर – अक्षत योनि को विधवा कहना ही ठीक नहीं। वह तो कन्या ही है, उसका दूसरा विवाह कर देना सर्वथा उचित है। सारी स्मृतियों का भी यही मत है। परन्तु क्षतयोनियों का भी वर्तमान दशा को दृष्टियों में रखते हुए आपत्ति-धर्म समझकर यथावश्यक विवाह कर देना ठीक है।

प्रश्न—परन्तु विधवा विवाह तो द्विजों में निन्दित है।

उत्तर यह तो समाज का अपना बन्धन है जिस चीज की रोक कर दी वह बुरी और जिसको खोल दिया वही अच्छी बन जाती है। अब तो विधवा विवाह न करने की अनेक हानियां देखकर प्रायः सभी बिरादिरियां इसके पक्ष में हो रही है। और होना भी ऐसा ही चाहिये। तनिक ध्यान तो दो कि इस अनुचित बन्धन से कितनी हानि है।

१—छोटी-छोटी दुधमुंही बच्चियों का जो मां की गोद में खेलती है विवाह करके बिना उनके किसी अपराध के उन्हें आयु भर की विपदा में डाल दिया जाता है। अपराध तो माता पिता और ससुराल वाले आप करते हैं और लड़की को अभागिनी अथवा डायनादि शब्दों से दिन रात छेदते और अनेक दुःख देते रहते हैं। ऐसी दशा में एक कुल किस प्रकार सुखी रह सकता है ?

२—जब विधवा अपने सतीत्व धर्म को नहीं सम्भाल सकती और वह दूसरे आदमियों के वाग्जाल में फंस जाती है तो भ्रूणहत्या की दोषी बनती है। जो सन्तति जाति के बल और गौरव का कारण बन सकती थी वह नष्ट हो जाती है।

३—ऐसी विधवाओं को प्रायः घर से निकाल दिया जाता है। और वे ईसाई अथवा मुसलमानों के हाथ में पड़ कर अपने धर्म को खो बैठती हैं।

३—विधवाओं का होना जाति में अनाचार फैलने का कारण बन रहा है। अतः इनका विवाह ही हो जाए तो ठीक है क्योंकि सारी आयु ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करना बहुत ही कठिन है।

प्रश्न—परन्तु कुलीन विधवाएं तो स्वयं विवाह करना नहीं चाहतीं।

उत्तर हां यह ठीक है। इसका कारण एक तो पुराने संस्कार हैं। दूसरे लोक लाज है। जो विधवाएं पहले अपने पति का सिर गोद में लेकर चिता में बैठकर जल मरती थीं उनका एक दम अपनी मर्यादा को छोड़ देना कठिन है। परन्तु जिन बिरादरियों में विधवा-विवाह की प्रथा है उनको दूसरा विवाह करने में कोई संकोच नहीं होता। और यदि उनके कहने पर ही जाओ तो कौन-सी कुमारी कन्या कहेगी कि मेरा विवाह कर दो। हमें इस विषय में स्वयं निश्चय करके उनके आगामी सुख का ध्यान रखकर विवाह कर देना चाहिये।

परन्तु यदि कोई दृढ़व्रता होकर अकेली रहना चाहे तो सर्वश्रेष्ठ है। उस पर बलात्कार नहीं होना चाहिये।

प्रश्न - क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि विधवा विवाह की जरूरत ही न रहे।

उत्तर—ऐसा तो कभी नहीं हो सकता। हां ऐसे साधन हो सकते हैं जिनसे विधवाओं की संख्या में बहुत कमी हो जाय यथा :—

१ बूढ़ों और छोटे बच्चों का विवाह बिल्कुल नहीं करना चाहिये।

२ —अधिक विवाह नहीं होने चाहियें। बंगाली बिशेष करके कुलीन ब्राह्मण—बहुत सी स्त्रियां कर लेते हैं। इस प्रकार एक के मरने से सारी विधवाएं हो जाती हैं। परन्तु फिर भी अकाल मृत्यु आती ही रहती है इसलिये विधवा विवाह की प्रथा का जारी करना आवश्यक है।

पञ्च महायज्ञ

प्रश्न—गृहस्थी के क्या-क्या धर्म हैं ?

उत्तर—मुख्य करके पंच महायज्ञ और १६ संस्कार गृहस्थियों के धर्म हैं।

प्रश्न—पञ्चमहायज्ञ कौन से हैं ?

उत्तर (१) ब्रह्मयज्ञ अर्थात् सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सन्ध्या करना और वेदपाठ करना।

(२) देवयज्ञ—अर्थात् दोनों समय हवन करना।

(३) नृयज्ञ अथवा अतिथि यज्ञ जो अभ्यागत साधु-सन्त अर्थात् सच्चे संन्यासी आवें उनका भोजनादि से सत्कार करना।

(४) पितृयज्ञ माता पिता और आचार्य आदि को भोजन से तृप्त करना।

५) भूतयज्ञ अथवा बलिवैश्वदेवयज्ञ—लंगड़े, लूले, अनाथ

तथा गाय, कुत्ते, कव्वे आदि को भोजन देना।*

अब इस पर बारी-बारी से आलोचना की जाती है।

ब्रह्मयज्ञ—अर्थात् संध्या करना तथा वेदादि सत्य शास्त्रों का स्वाध्याय करना। संध्या दो समय (जब दिन और रात मिलते हैं) की जाती है। प्रातः काल इसका समय तारागण के अस्त होने से सूर्योदय तक और सायंकाल को सूर्यास्त होने से तारागण के उदय होने के समय तक है। संध्या के तीन भेद हैं—स्तुति,प्रार्थना और उपासना। इसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। तो भी दो तीन विधियों का विशेष वर्णन आवश्यक है।

१—एक तो आचमन है। यह प्राचीन वैदिक मर्यादा है। समय-समय पर आचमन किया जाता था। आचमन में केवल इतने जल का पान किया जाता है जो गले की खुशकी दूर करता हुआ हृदय-स्थल तक पहुंचे। इससे गले की कफ निवृत्त होती है। और थोड़े-थोड़े जल का पान स्वास्थ्य के लिये भी लाभकारी होता है। इससे मन भी शांत हो जाता है।

२—**अङ्गस्पर्श**—जब अङ्गस्पर्श तथा अङ्गों पर जल सिञ्चन करके इनका मार्जन किया जाता है, तो शिथिलता दूर होकर इनमें स्फूर्ति आती है। साथ ही मनका इनकी ओर ध्यान होने से इनमें शक्ति का भी अधिक सञ्चार होता है।

३—**प्राणायाम**—प्राणों की गति पर काबू पाने का नाम प्राणायाम है।

प्राण पांच प्रकार के हैं :—

१ प्राण जब सांस अन्दर जाता है तब इसे प्राण कहते हैं।

---

*ऋषि यज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ (मनु० ४-२१।)

अर्थ—ऋषि यज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, और पितृयज्ञ को यथा-शक्ति न छोड़ो।

२—अपान बाहर आने वाले सांस को अपान कहा जाता है। यह अन्दर की गन्दी हवा को बाहर निकालता है और मल-मूत्र को भी बाहर निकालता है।

३ समान--इसका स्थान "नाभि" है, यहां यह से सारे शरीर में रस पहुंचाता है।

४—उदान—इसका स्थान कंठ है, यह खाने-पीने की चीजें अन्दर ले जाता है, इससे छींक और डकार आती हैं। यह कठ से सिर तक जाता है।

५—व्यान—यह सारे शरीर में व्यापक होकर इससे काम कराता है। इसीसे शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्ग गति में आते हैं।

प्राणायाम के तीन दर्जे हैं—(१) बाह्य विषय अथवा रेचक (२) आभ्यन्तर अथवा पूरक और (३) कुम्भक अथवा स्तम्भवृत्ति।

रेचक—पहले पेट को सुकेड़ कर जोर से श्वास को बाहर निकालना चाहिये जिस तरह कोई वमन करता है।

२. **पूरक**—फिर आहिस्ता-आहिस्ता श्वास को अन्दर ले जाना चाहिये और जितना हो सके श्वास को अन्दर ले जाकर इसे रोके रखना चाहिये। परन्तु जब दम घुटने लगे तो फिर जोर से इसे बाहर निकाल देना चाहिये।

३. तीसरा स्तम्भ वृत्ति है, अर्थात् जब श्वास को बाहर निकाला जाए तो उसके प्रतिकूल श्वास चलाकर श्वास को वहां ही रोक दिया जाय।

इस तरह से श्वास काबू में आ जाता है। मनुस्मृति में लिखा है कि जिस तरह आग में तपाने से सोने आदि धातुओं की मैल जल जाती है इसी तरह प्राणों के निग्रह (वश में) करने से इन्द्रियों के दोष जाते रहते हैं।

---

*दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० ६-७१

जिस समय शुद्ध प्राण वायु (Oxygen) को खूब अन्दर भर लिया जाता है तो जहां-जहां अन्दर शरीर में Dead Carbon होता है वह जलकर Carbondioxide के रूप में बाहिर निकल जाता है। रक्त शुद्ध हो जाता है और इसकी गति में रोक नहीं रहती। अभ्यास करने पर हम वायु को शरीर के जिस अङ्ग में चाहें भेज सकते हैं, और इसका मार्जन कर सकते हैं। प्राणों को शरीर के स्थान विशेषों में पहुंचा कर इन्हें हिला घुमा सकते हैं। यही नहीं, बल्कि इनको इतना सख्त कर सकते हैं कि इन पर किसी प्रकार का प्रहार हानि नहीं पहुंचा सकता है। प्राणायाम के अभ्यास वाले तो यह कहते हैं कि वे जिस भाग को चाहें इतना कठोर बना सकते हैं क इसे तलवार भी नहीं काट सकती। गले पर या आंख पर रखकर लोहे का नोकदार सरया मोड़ देना इसका ही करिश्मा बताया जाता है। प्राणायाम करने वालों का स्वास्थ्य अच्छा और आयु दीर्घ होती है। अनेक लोगों का ऐसा मत है कि जीवन के सांस गिने हुए हैं। उनके सिद्धान्तानुकूल आयु न्यूनाधिक नहीं हो सकती। परन्तु यदि अभ्यास से सांस लम्बे कर लिये जायें तो उनका सिद्धान्त भी बना रहता है और आयु भी लम्बी हो जाती है। प्राणायाम करने वालों पर रोगों का आक्रमण नहीं होता। ब्रह्मचर्य पालन करने में प्राणायाम बड़ा सहायक है। प्राणायाम से श्वास दीर्घ हो जाता है। श्वासों के दीर्घ होने से मन की एकाग्रता और विचारों की स्थिरता बढ़ती है। बुद्धि निर्मल होती है। यदि कोई आदमी भागता हुआ आए, उसका दम फूला हुआ हो, श्वास शीघ्र २ चलता हो, यदि उस समय कोई बात उससे पूछी जाय तो वह निस्सन्देह यही कहेगा कि सब्र करें सांस तो ठिकाने आ लेने दें। भय और शोक के समय भी श्वासों की गति तेज और उखड़ी हुई होती है। इसीलिये किसी बात पर भली भांति विचार नहीं हो सकता। विचारशील पुरुष प्रायः ऐसा किया करते हैं कि जब उनसे कोई बात पूछी जाती है विशेष कर कोई ऐसी बात जिससे उनके

मन में क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना हो तो वे पहले एक दीर्घ श्वास लेकर क्षण भर चुप रहते हैं, फिर शांत भाव से उत्तर देते हैं। इससे मन पर बड़ा शासन (Control) हो जाता है। अतः प्राणायाम का अभ्यास प्रत्येक दृष्टिकोण से परम आवश्यक है। अब पश्चिम के विद्वानों ने भी इसके महत्त्व का अनुभव किया है और इसे Breath Exercise का नाम दिया है। परन्तु वे अभी तक इसके उस मर्म को नहीं पहुंचे जिसको हमारे पूर्वज पहुंचे हुए थे।

संध्या का स्थान

वैदिक धर्मावलम्बी पूजा के लिये किसी मन्दिर, गिरजा अथवा मस्जिद को जरूरी नहीं समझते क्योंकि वे ईश्वर को दिल से सर्वव्यापक मानते हैं। संध्या का अर्थ है भली प्रकार ध्यान करना। अतः इसके वास्ते ऐसा स्थान होना चाहिये जो स्वच्छ हो, जहां किसी प्रकार की दुर्गन्ध न हो, और जो शांत हो अर्थात् जहां किसी प्रकार का शोर न हो। संध्या और उसकी विधि ऋषि दयानन्द सरस्वती कृत पञ्च-महायज्ञ विधि में दी गई है। यह अलग छपी हुई भी बहुत मिलती है, वहां से देख लें। स्थानाभाव से इसे यहां नहीं दिया गया।

सन्ध्या करते समय मन्त्रों के अर्थों का विचार करते रहना चाहिये और जब मन इधर-उधर जाय तो फिर वहीं से आरम्भ कर देना चाहिये जहां मन्त्रों तथा उनके अर्थों की लड़ी टूटी थी। इस तरह अभ्यास करते-करते और मन्त्रों के विस्तृत अर्थों का चिन्तन करते हुए हमें सन्ध्या पूर्ण फल देने वाली होगी।

इसके अतिरिक्त अघमर्षण मन्त्र के तथा सन्ध्या के पश्चात् अथवा केवल सन्ध्या के पश्चात् अन्य वेदमन्त्रों का जो कण्ठस्थ हों, पाठ करके उनके अर्थों का विचार करना चाहिये और फिर अपनी मातृ-भाषा में परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना करनी चाहिये तथा अपनी मनो-वृत्तियों और अपने नित्यकृत्यों का अन्तरावलोकन (Introspection)

करना चाहिये और परमात्मा से अपने अवगुणों को दूर करने के लिये बल की प्रार्थना करनी चाहिये।

स्वाध्याय

ब्रह्मयज्ञ का एक दूसरा आवश्यक अङ्ग है जिसे स्वाध्याय कहा जाता है। स्वाध्याय वेदादि सत्यशास्त्रों अथवा अध्यात्म विद्या सम्बन्धी ग्रन्थों के पाठ को कहते हैं। प्राचीन समय में स्वाध्याय का बड़ा महत्त्व था। प्रत्येक गृहस्थी से यह आशा की जाती थी कि वह ब्राह्ममुहूर्त में सूर्योदय से दो घण्टे पहले जागकर, शौच, दन्त-धावन, स्नान, व्यायाम, सन्ध्योपासन, हवन आदि के पश्चात् स्वाध्याय करे। इसी वास्ते यह रीति थी कि जब कोई गृहस्थी किसी ऋषि संन्यासी अथवा धर्मगुरु के पास जाता था तो वह उससे अन्य कुशलक्षेम पूछने के पश्चात् यह भी पूछा करता था कि आपके स्वाध्याय में तो किसी प्रकार का विघ्न नहीं है? स्वाध्याय हमारे हृदय में उच्च भावों को उत्पन्न करने वाला और इनको उत्तेजित करने वाला होना है। हम एक प्रकार से प्रातःकाल ही ऋषि-मुनियों की सङ्गति का लाभ उठा लेते हैं, और सारे दिन हमारे जीवन पर इसका शान्तिमय प्रभाव रहता है। जिस प्रकार एक डबोलिया शरीर पर तेल मलकर खारे मीठे पानी में गोते मारता रहता है, और बुरे पानी के असर से बचा रहता है, इसी तरह एक स्वाध्यायी संसार की बुरी वासनाओं से बचा रहता है। यह दुःख की बात है कि जड़ जगत् की पूजा करने वाले योरोपियन लोगों का अनुकरण करते हुए हमने तत्त्ववेत्ता पूर्वजों की स्थापित की हुई मर्यादाओं को छोड़कर अन्धाधुन्ध पश्चिमी मर्यादा का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया है। हम उनकी तरह ही सूर्योदय से बहुत पीछे उठते हैं, शौचादि से निवृत्त होने के पूर्व ही चाय आदि पीते हैं और अखबार का पाठ आरम्भ कर देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि सारा दिन और इसी तरह

सारा जीवन अशांत संघर्षण में व्यतीत हो जाता है—न मानसिक शांति ही मिलती है न सांसारिक सुख ही।

देवयज्ञ—पञ्चमहायज्ञों में दूसरा यज्ञ देवयज्ञ कहलाता है।

देव का अर्थ है "दिव्यगुण रखने वाला"

देवता दो प्रकार के हैं, एक जड़ और दूसरे चेतन। जड़ देवताओं में जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत आदि सब शक्तिशाली पदार्थ आ जाते हैं।

चेतन में "विद्वांसो हि देवा"—विद्वान् लोग ही देवता हैं। अर्थात् जो प्रकृति तथा आत्मसम्बन्धी सारी विद्याओं के जानने वाले तथा उनके अनुकूल आचारण रखने वाले हैं उनको ही विद्वान् अथवा देवता कहा जाता है।

परन्तु महायज्ञों में देवयज्ञ का अर्थ विशेष करके "हवन" लिया गया है।

प्रातः और सायंकाल घृतमिश्रित केसर, कस्तूरी, अगर, तगर, बालछड़, छलछलीरा नागरमोथा, जायफल, जावित्री, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों को तथा खांड, मधु आदि कई एक पुष्टिकारक पदार्थों को नियमित वेद मन्त्रों सहित और नियमित विधि से अग्नि में डालना "हवन" कहलाता है।

प्रश्न—हवन से क्या लाभ हैं ?

उत्तर—हवन से निम्न लिखित लाभ हैं।

(क) जलवायु की शुद्धि।

(ख) सुगन्धि का फैलाना।

(ग) वर्षा का होना।

(घ) अपनी तथा अन्य जीवों के शरीर की पुष्टि।

(च) वेदों की रक्षा।

प्रश्न—हवन से सुगन्धि तो अवश्य फैलती है परन्तु इससे जल-

वायु की शुद्धि कैसे होती है ? सुगन्धि तो हम पुष्पादि रखकर भी फैला सकते हैं।

उत्तर—जिस समय सुगन्धित पदार्थ अग्नि में डाले जाते हैं तो ये सूक्ष्म रूप धारण करके वायु में फैल जाते हैं, और दूर-दूर तक सुगन्धि फैल जाती है। पुष्पों से वायु सुगन्ध-मिश्रित तो हो जाती है परन्तु यह सूक्ष्म होकर बाहर नहीं निकल सकती और न इसके स्थान में बाहर से शुद्ध वायु आ सकती है।

सामग्री के बारीक कण जब ऊपर मेघमण्डल में चले जाते हैं तो वे अपने गिर्द जलकणों को एकत्रित करके बादलों का रूप धारण कर लेते हैं। इसी विषय पर गीता में बड़े सुन्दर रूप से प्रकाश डाला गया है। लिखा है कि -

*अन्न से प्राणी पैदा होते हैं, बादल से अन्न पैदा होता है, यज्ञ से बादल पैदा होता है और कर्मों से यज्ञ पैदा होने वाला है। इसलिए यह सिद्धान्त सर्वमान्य ही है कि यज्ञ से जल वायु की शुद्धि और वर्षा होती है। यह भी देखा गया है कि बड़े-बड़े संग्रामों में जहां बन्दूकों और तोपों के गोले चलते रहे थे वर्षा हुई। अब अमेरिका में ऐसा भी तजुरबा किया गया है कि हवाई जहाज में चढ़कर गोले चलाते हैं और इनसे वर्षा हो जाती है। यहां भी बात वही है कि बारूद के बारीक कणों के गिर्द पानी के बारीक कण एकत्र हो जाते हैं। यदि शीशे के एक फानूस में भाप डाल दें और इसको सरदी पहुंचायें तो भी यह भाप जल नहीं बनेगी, परन्तु यदि इसमें मिट्टी के बारीक परमाणु डाल दिये जाएं तो तत्काल सारी भाप पानी बन जाएगी।

प्रश्न परन्तु हवन से दूसरों की पुष्टि कैसे होती है ? यदि इतना

***अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।**
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

— गीता॥ ३ १४॥

घी, शहद खांड आदि किसी को खाने के लिये दियाजाए तो उसका लाभ भी हो सकता है।

उत्तर—यदि खाने को दिया जाए तो केवल उस एक का ही लाभ हो सकता है परन्तु जब यही पुष्टिकारक पदार्थ सूक्ष्म बनकर हजारों आदमियों के नासिका द्वारा प्रवेश करते हैं तो कितनों की पुष्टि होती हैं। यदि यह शंका करें कि इस थोड़ी सी चीज का क्या असर हो सकता है तो विष क्या बहुत अधिक होता है ? प्लेग के सूक्ष्म कीटाणु हमारे अन्दर प्रविष्ट होकर हमारे जीवन का अन्त कर देते हैं। वास्तव में हमारे जीवन का आधार हमारे रक्त की पवित्रता पर है। यदि यह स्वस्थ और शुद्ध है तो इसमें सारी बीमारियों के प्रतिरोध की शक्ति होती है परन्तु यदि यह निर्बल और अस्वस्थ हो जाय तो कोई भी बीमारी बल पकड़ सकती है। रक्त में दो प्रकार के सूक्ष्म कीटाणु होते हैं। एक को Red Corpusles और दूसरे को White Corpusles कहते हैं। रक्त वर्ण के कारपसल्ज खून को स्वस्थ और बलवान् करते हैं। यही बाहर से आने वाले रोगों के कीटाणुओं से युद्ध करते हैं। जितनी इनकी संख्या बढ़ती है उतना ही रक्त बलवान् होता है। हवन हमारे शरीर में इनको बढ़ाता है। और रक्त को शुद्ध और बलवान् करता है।

प्रश्न—वेदों की रक्षा इससे कैसे होती है ?

उत्तर—क्योंकि हवन करते हुए आहुतियों के साथ-साथ ऋचाओं का पाठ होता है। इसलिये वेदों की रक्षा होती है।

प्रश्न – हवन करने की क्या विधि है ?

उत्तर—यह विधि 'पंचमहायज्ञ विधि' में देख लें।

पितृयज्ञ

तीसरा यज्ञ पितृयज्ञ कहलाता है। पितृ शब्द का अर्थ है पालन करने वाला। अतः इसमें माता-पिता, घर के बड़े, आचार्य आदि सब आ जाते हैं।

पितृयज्ञ के दो भेद हैं एक श्राद्ध और दूसरा तर्पण।

जो कार्य श्रद्धा से किया जाय उसे 'श्राद्ध' कहते हैं। और जिसमें माता पिता तृप्त हों उसे 'तर्पण' कहते हैं। परन्तु यह क्रिया जीवित माता पिता के लिये है, मरे हुओं के लिये नहीं जैसा कि बहुत से लोग आजकल करते हैं।

प्रश्न श्राद्ध तो मरे हुए पितरों का होता है, जीवित माता पिता का किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—मरे हुओं का किस प्रकार हो सकता है ? जब हमने उन को अपने हाथों से भस्म कर दिया और जब उन्होंने अपने कर्मानुसार दूसरा जन्म ले लिया तो अब हम किस प्रकार सेवा शुश्रूषा कर सकते हैं ?

पौरा० हम वर्ष के पीछे ब्राह्मणों को भोजनादि खिलाते हैं, वस्त्र, सवारी, गौ आदि दान देते हैं, यह सब उनको प्राप्त होती हैं।

आर्य—यह तो मनघड़न्त बात है। हम साक्षात् देखते हैं कि ये वस्तुएं ब्राह्मणों के पास ही रहती हैं। फिर हमें क्या मालूम कि हमारा पिता किस योनि में है। सम्भव है कि किसी कीट पतंग अथवा किसी पशु की योनि में हो। फिर तो यह गाय, घोड़ा, रथ और यह भोजन सारे ही निरर्थक होंगे। बात यह है कि स्वार्थियों ने अपना पेट भरने का रास्ता बनाया हुआ है। यहां हम आपको एक हंसी की कथा सुनाते हैं।

एक चतुर चौधरी ने एक ब्राह्मण को अपने घर बुलाया और थाली में अफीम का एक बड़ा गोला रख दिया। ब्राह्मण यह देखकर विस्मित हो गया। उसने कहा, यजमान यह अफीम क्यों रक्खी है ? चौधरी ने कहा, महाराज, मेरे पिता जी अफीम बहुत खाते थे, रात उन्होंने स्वप्न में मुझे कहा है कि तू और चीजें तो भेज रहा है मगर अफीम तो भेजता ही नहीं, मेरे तो इसके बिना प्राण निकले जा रहे हैं। इस लिये

महाराज ! पहले इसे खा लो और मेरे पिता जी का उद्धार करो । इस पर ब्राह्मण ने घबरा कर कहा कि यह तो मैं नहीं खा सकता, मैं तो मर जाऊँगा । इस पर चौधरी ने थाली सामने से उठा ली और कहा कि यह खीर आदि अमृत भोजन तो हम भी खा सकते हैं । हमारे खाने से हमारे पिता अधिक प्रसन्न होंगे ।

शंका—नहीं, श्राद्ध का यह भाव नहीं । यह तो वीर पूजा है । सारे सभ्य जगत् में अपने महापुरुषों का वार्षिकोत्सव मनाया जाता है । यदि हम भी मनाएं तो क्या हानि है ?

उत्तर—इसमें तो कोई हानि नहीं । परन्तु यह वीर पूजा तो नहीं, यह तो प्रत्येक आदमी अपने-अपने पिता-पितामह की पूजा करता है । और उनके ही निमित्त भोजन खिलाता है ।

प्रश्न—यदि वीर पूजा के भाव से अपने ही पूर्वजों की पूजा कर ली जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—हानि है । प्रत्येक पुरुष का पिता अथवा पितामह जरूरी नहीं कि वीर हो । क्या एक पुत्र के लिये अपने दुराचारी, डाकू अथवा चोर पिता की वीरपूजा करना ठीक होगा ? यह तो आप मिथ्या तर्क से अपने निषिद्ध कर्म की पुष्टि करना चाहते है । वीर पूजा में वीरों के सद्‌गुणों का बखान होता है जैसे रामनवमी, दशहरा, जन्माष्टमी, प्रताप, शिवाजी आदि योद्धाओं की जयन्ती । इनमें तो कोई ब्राह्मणों को खीर और मालपूड़े नहीं खिलाता ?

प्रश्न—तो जीते माता-पिता के श्राद्ध अथवा तर्पण का क्या अर्थ हुआ ? जीवित माता पिता की तो सारे ही सेवा करते हैं ।

उत्तर—ऐसा तो नहीं होता । होता तो यह है कि जीवित माता पिता को धक्के मिलते हैं और जब वे मर जाते हैं तो लोक-लाज अथवा दिखावे के लिये उनके पिण्ड भराये जाते हैं ।

ऐसी दशा में क्या आवश्यक नहीं कि प्राचीन सुव्यवस्था को पुन-

जीवित किया जावे ? जिसके अधीन श्रीरामचन्द्रजी ने १४ वर्ष वनवास किया, जिसके अधीन श्रवणकुमार अपने अन्धे माता-पिता को उठाए फिरता रहा, जिसके अधीन परशुराम ने क्षत्रियों से अपने माता-पिता के अपमान का बदला लिया और जिसके अधीन कृष्णकुमारी ने अपने पिता के हाथ से विष का प्याला लेकर हंसते-हंसते पी लिया।

नृयज्ञ अथवा अतिथियज्ञ

अतिथि सेवा करना आर्यों ने अपना नित्य का कर्म बनाया हुआ था। अतिथि का अर्थ है जिसकी तिथि निश्चित न हो अर्थात् उन साधु-संन्यासियों तथा विद्वानों की सेवा करना जो बिना खबर दिये घर पर आ जाएँ। निर्धन से निर्धन आर्य अतिथि का सत्कार करता था। यदि घर में कुछ भी खाने को न होता था तो भी आसन बिछाकर, पांव धुलाकर, शीतल जल देना और मीठी वाणी बोलना तो अनिवार्य था। इस सम्बन्ध में नीतिकारों ने कहा है कि जिसके घर से अतिथि निराश होकर चला जाता है वह अपने दुष्कर्मों को वहीं छोड़ जाता है और उसके पुण्य कर्म अपने साथ ले जाता है।

अतिथियों की सेवा करना न केवल व्यक्तियों का धर्म था बल्कि सामूहिक धर्म भी था। नगर की अथवा सेठ साहूकारों की ओर से अब तक कुएं, तालाब, प्याऊ और धर्मशालाएं आदि बनी हुई हैं। कहीं-कहीं तो यात्रियों को भोजन भी मिलता है। इस प्रकार की संस्थाएं (Institutions) दुनियां में कहीं नहीं मिलती। योरुप में तो बिना पैसा दिये पानी का गिलास भी नहीं मिल सकता। परन्तु यह मान और सत्कार विचार कर करना चाहिये। इस विचारहीनता से ही लाखों आलसी दुराचारी और कपटी फकीरों और साधुओं की एक बड़ी फौज बन गई है। इनके सम्बन्ध में मनु जी ने लिखा है :—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्!
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

मनु० ४-३०

अर्थ पाखण्डी, दुराचारी, वैडाल वृत्ति अर्थात् देखने में मिसकीन परन्तु बिल्ले के सदृश दुराचारी, शठ अर्थात् दुराग्रही धरना लगाकर बैठ जाने वाले, कुतर्की, नास्तिक आदि तथा बगले भक्तों का वाणी से भी सत्कार न करे।

भूतयज्ञ अथवा बलिवैश्वदेव यज्ञ

प्रतिदिन गौ आदि पाले हुए पशुओं, कुत्ते, कव्वे आदि सहचार जन्तुओं तथा रोगी, अतिदीन अनाथों, विधवाओं और निराश्रय मनुष्यों को भोजन देना भूतयज्ञ कहलाता है। यदि यह यज्ञ विधिपूर्वक न भी हो सके तो भी जिन वास्तविक भावों (Spi it) पर ये यज्ञ निर्धारित हैं उनका तो अवश्यमेव पालन होना चाहिये।

संस्कार

प्रश्न—संस्कारों का क्या अभिप्राय है।

उत्तर—संस्कार का अर्थ है भली भांति दुरुस्त करना। वैदिक संस्कर १६ हैं। नाम नीचे दिये जाते हैं—

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म्म ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकर्म्म ९. कर्णवेध १०. उपनयन अथवा यज्ञोपवीत, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्तन. १३. विवाह, १४ वानप्रस्थ, १५. संन्यास, १६. अन्त्येष्टि।

यदि इन संस्कारों की पूरी व्याख्या की जाए तो बड़ी लम्बी कथा हो जायगी। अतः संक्षेप से ही इनका वर्णन किया जाता है।

१ गर्भाधान सन्तानोत्पत्ति की भावना से स्त्री पुरुष का विधि अनुसार परस्पर संसर्ग करना गर्भाधान कहलाता है।

गर्भाधान के लिये कुछ समय पहले से ही तैयारी करनी चाहिये अर्थात् स्वस्थ और प्रसन्नचित्त होकर यह संस्कार करना चाहिये। जिस प्रकार एक कृषक एक ओर चुन चुनकर अच्छे से अच्छा बीज लेता है और दूसरी ओर पानी खाद आदि देकर और बार-बार हल चलाकर

जमीन को खूब तैयार कर लेता है और फिर बीज डालता है, इसी तरह कुछ समय पहले स्त्री और पुरुष सब प्रकार से अपने शरीर को नीरोग और पुष्ट रखकर इस सस्कार को करें। यही समय बच्चे के जीवन की नींव रखने का है। इस समय माता पिता की जैसी मानसिक तथा शारीरिक अवस्था होती है वैसा ही उसका प्रभाव बालक के शरीर और मन पर पड़ता है। अतः गर्भाधान के समय भावों का पवित्र, शरीर का नीरोग और मन का प्रसन्न होना आवश्यक है। देखा गया है कि उस समय उन चित्रों का जो कमरे में होते हैं, बालक के रंगरूप पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

२ ३—गर्भ काल में दो संस्कार होते हैं पुंसवन और सीमन्तोन्नयन। पुंसवन गर्भस्थिति के दूसरे अथवा तीसरे मास में और सीमन्तोन्नयन चौथे मास के पश्चात् होता है।

यह अनुभव किया गया है कि गर्भावस्था में माता के खान पान का, रहन सहन का, एक एक शब्द का जो उसके कान में पड़ता है, अथवा एक एक दृश्य का जो उसकी आंखों के सामने से गुजरता है, और एक एक संकल्प का जो उसके मन में उठता है, गर्भस्थ बालक पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कहते हैं कि हुमायूं की बेगम एक दिन अपने तलवे पर सुरमे से एक फूल का चित्र बना रही थी, हुमायूं ने पूछा, यह क्या कर रही हो। उसने कहा मेरी इच्छा है कि मेरे पुत्र के तलवे पर भी ऐसा ही फूल हो। और यह आश्चर्य से देखा गया कि जब अकबर का जन्म हुआ तो उसके तलवे पर भी वैसा ही फूल था। नैपोलियन की इतनी अतुल शूरवीरता का कारण यह था कि उसकी माता उसे गर्भ में लिये हुए रणक्षेत्र में दिन व्यतीत करती थी और शूरवीरों की बातें सुना करती थी। इसलिये इन दोनों संस्कारों का अभिप्राय यह है कि गर्भिणी के खान पान को नियम बद्ध किया जाए। जिस प्रकार के पुत्र की इच्छा हो उसके अनुकूल इसका आचार, व्यवहार

ग्रौर विचार किया जाए। ग्रौर इसको कभी भयभीत न होने दिया जाय।

४—जातकर्म—यह वह संस्कार है जो ठीक बच्चे के उत्पन्न होने के पश्चात् किया जाता है। ग्राजकल यह बहुत बुरी प्रथा चली हुई है कि गर्भिणी को प्रसूत के समय एक गन्दी सी कोठड़ी में जहां हवा ग्रौर रौशनी न ग्रा सके एक टूटी सी चारपाई, ग्रौर फटे-पुराने बिस्तरे पर लिटा देते हैं। ऐसा भी होता है कि भूत चुड़ैल के भय से कमरे में ग्रौर कमरे के द्वार पर ग्राग जलाकर इसमें ग्रजवायन ग्रादि डाल देते हैं। स्वयं घर का कोई ग्रादमी सेवा नहीं करता बल्कि किसी दाई ग्रौर किसी ग्रपवित्र रहने वाली स्त्री को प्रसूता की सेवा के लिये रक्खा जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि बच्चे ग्रौर उसकी माता को ग्रनेक रोग लग जाने हैं ग्रौर कभी२ तो इन दोनों की मृत्यु भी हो जाती है। उचित यह है कि कमरा ऐसा हो जिसका फर्श पक्का हो। जिस में रौशनदान हों ताकि गन्दी वायु बाहर निकल सके ग्रौर शुद्ध वायु ग्रन्दर ग्रा सके। हवा का झोंका—विशेष करके शीतकाल के समय—स्त्री को नहीं लगना चाहिये। परन्तु जब गर्मी हो तो खिड़कियां भी कुछ खोल देनी चाहियें जिससे शुद्ध वायु का प्रवेश हो सके! यदि सर्दी हो तो जच्चा भारी कपड़ा ऊपर ले ले, ग्रौर कुछ देर के लिये मुँह ढक ले, फिर, खिड़कियां खोल कर गन्दी हवा बाहर निकाल दी जाए। चारपाई ग्रच्छी ग्रौर बिस्तरा नरम ग्रौर स्वच्छ होना चाहिये। चूँकि ये कपड़े रक्खे नहीं जाते ग्रौर दाई को दे दिये जाते हैं इसलिये ग्रच्छे बड़े घरों में भी इस विषय में बड़ी कंजूसी से काम लिया जाता है। इस प्रकार पुत्र ग्रौर माता दोनों के जीवन को संकट में डाल दिया जाता है। पुत्र तथा माता दोनों ही इस समय बड़ी कोमल दशा में होते हैं। इसलिये उनकी ग्रवस्थानुसार उनके साथ सुलूक करना चाहिये। इसके सम्बन्ध में श्री स्वामी जी ने वैद्यक शास्त्रों के ग्राधार पर लिखा है कि :—

जब सन्तान का जन्म हो तब स्त्री और बच्चे के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे अर्थात् शुंठी पाक अथवा सौभाग्यशुंठीपाक प्रथम ही बनवा कर रखे। इस समय सुगन्धि युक्त उष्ण जल जोकि किञ्चित् उष्ण रहा हो उसी से स्त्री स्नान करे और बालक को भी स्नान करावे। तत्पश्चात् नाड़ी छेदन बालक की नाभि की जड़ में एक कोमल सूत्र बान्धकर और चार उङ्गल छोड़कर ऊपर से काट डासे (जिस उस्तरे अथवा चाकू आदि से काटना हो उसे पहले आग में खूब तपा कर ठण्डा कर लेना चाहिये) उस को ऐसा बान्धें कि शरीर से एक बिन्दु रुधिर भी जाने न पाए। तत्पश्चात् उस स्थान को शुद्ध कर के उसमें सुगन्धादि युक्त घृतादि का होम करे। इसके पश्चात् पिता सन्तान के कान में 'वेदोऽसि" (अर्थात तेरा नाम वेद है) सुना कर घी और शहद ले कर सोने की शलाका से बच्चे की जीभ पर "ओ३म्" अक्षर लिख कर मधु और घृतको उसी श्लाका से चटावे। तत्पश्चात् उसकी माता को दे दे। ऐसा कर चुकने पर किसी दूसरी शुद्ध कोठड़ी वा कमरे में जहां का वायु शुद्ध हो उस में सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायं किया करे। और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालकको रक्खें। जातकर्म की विधि लम्बी है। संस्कार विधि में देख लें। परन्तु एक बात यहां भी वर्णनीय है। पिता बालक के सिर पर हाथ रख कर कहता है—',ओं अश्माभव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव' । (सस्कार-विधि जातकर्म प्रकरण)

अर्थः—"तू पत्थर हो, तू कुल्हाड़ा हो, तू न दबने वाली ज्योति हो। हे पुत्र ! तेरा नाम वेद है, तू सौ वर्ष पर्यन्त जी" इस में पिता प्रार्थना करता है कि हे पुत्र तू दुःख और कष्ट सहने के लिये पत्थर की तरह दृढ़ और निश्चल हो। अपना रास्ता बनाने के लिये कुल्हाड़े की तरह तीक्ष्ण हो और ऐसी ज्योति बन कि दूसरी सारी ज्योतियां तेरे सामने दब जायें अर्थात् जिस प्रकार सूरज के सामने चन्द्रमा और तारागण की ज्योति मध्यम हो जाती है उसी तरह तेरे सामने दूसरे विद्वानों की

विद्या और पराक्रमी पुरुषों का पराक्रम दब जाए। इस प्रकार वेद की आज्ञा का पालन करता हुआ तू सौ वर्ष तक जी। जब यह प्रथा थी तभी आर्यावर्त में बलधारी, विद्वान् और धर्मपरायण लोग उत्पन्न होते थे।

५ नामकरण नाम का मनुष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अच्छा नाम बोलने वाले तथा सुनने वाले दोनों को प्यारा मालूम होता है। श्री स्वामी जी इस बात के महत्त्व को बड़ा मानते थे। एक दिन कोई रामदास उनके पास आए। स्वामी जी ने नाम पूछ कर कहा, महाशय ! कर्मों के सिंह नहीं बन सकते तो नाम के तो सिंह बन जाओ। किसी अन्य अवसर पर एक और सज्जन स्वामी जी से एक दिन शास्त्रार्थ करने आए। स्वामी जी ने कहा, आपका क्या नाम है। उन्होंने कहा कूड़ामल। स्वामी जी ने कहा, क्या कूड़ा काफी न था जो इस पर मल और डाल दिया। ये सज्जन इतने लज्जित हुए कि शास्त्रार्थ करना तो क्या वहां बैठ भी न सके।

इस वास्ते ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य को चाहिये कि अपने वर्णानुसार सार्थक नाम रक्खें। यदि चाहें तो ब्राह्मण के पीछे शर्मा, क्षत्रिय के पीछे वर्मा और वैश्य के पीछे गुप्त लगादें। परन्तु आजकल तो पश्चिमी प्रथानुसार ऐसी भद्दी रीति चल पड़ी है कि लोग अपने नाम के दो आरम्भिक अक्षर लेकर इनके पीछे अपने गोत्र अथवा अपनी उपजाति का नाम लगा देते हैं यथा K.R.Bh. radwaj या D.P.Kapur आदि। इससे एक तो असली नाम का पता नहीं चलता। दूसरे, उपजातियों का महत्व बढ़ कर आर्य जाति असंख्य भागों में विभक्त होती जा रही है। यह बात जाति के संगठन में बड़ी बाधक है। नाम पूरा और सुन्दर रखना चाहिये और इसी से सम्बोधन करना चाहिये।

नाम का शुभ समय जन्म से ११वां दिन है अथवा १०१वां दिन। प्राय: देखने में यह आता है कि यदि आरम्भ में ही अच्छा नाम न

रख दिया जाय तो स्त्रियां लाड़ में अथवा बच्चों को नजर से बचाने के लिये बड़े २ भ्रष्ट नाम रख देती हैं और फिर ये ऐसे पक जाते हैं कि इनका हटाना असम्भव सा हो जाता है।

६—**निष्क्रमण**—जब बच्चा शीतोष्ण सहन करने योग्य हो जाता है तो उसको घर से बाहर निकाल लिया जाता है।

७—**अन्नप्राशन**—यह देखा गया है कि बच्चा माता पिता के साथ अन्न खाने की चेष्टा किया करता है और वे भी इस की सन्तुष्टि के लिये इसे कुछ खिला देते हैं। परिणाम यह होता है कि बच्चे को अजीर्ण हो जाता है। पेट और जिगर बढ़ जाता है। रंग पीला पड़ जाता है। इस लिये यह बन्धन लगा दिया है कि जब तक अन्न-प्राशन संस्कार न होले बच्चे को अन्न न दिया जाए बल्कि केवल दूध पर रक्खा जाए। यह संस्कार छः मास के पीछे होना चाहिये।

८,९—**चूड़ाकर्म तथा कर्णवेध**—चूड़ाकर्म में गर्भके सारे अपवित्र बाल उस्तरे से उतार दिये जाते हैं। यह संस्कार पहले अथवा तीसरे वर्ष होना चाहिये। कर्णवेध जन्मसे तीसरे अथवा पांचवें वर्ष होना चाहिये इसमें कान की पपड़ियों में सुराख कर दिये जाते हैं, इस से कई रोगों की रोकथाम हो जाती है। साथ ही कुण्डलादि भूषण भी पहने जा सकते हैं।

१०, ११—**उपनयन संस्कार तथा वेदारम्भ**—इस संस्कार का बड़ा महत्त्व है। इससे बालक द्विज बनता है। द्विज का अर्थ है। "दूसरे जन्म वाला" अर्थात् पहला जन्म माता पिता से होता है। और दूसरा जन्म गुरु से, जो इसे पुत्रवत् ग्रहण कर के विद्या से विभूषित करता है। इस से पूर्व बच्चे को यज्ञों में भाग लेने का अधिकार नहीं होता क्योंकि बाल्यावस्था के कारण इसे शौचाशौच का ज्ञान नहीं होता। उपनयन के समय इसे गुरु यज्ञोपवीत (यज्ञ का वस्त्र अथवा चपरास) देकर यज्ञ करने का अधिकारी बना देता है। यज्ञोपवीत धारण न करने अर्थात् विद्या तथा यज्ञ के अधिकार से वंचित रहने पर

एक बालक द्विज नहीं बन सकता बल्कि शूद्र ही रहता है।

जन्म से आठवें वर्ष ब्राह्मण बालक का, ११वें वर्ष क्षत्रिय बालक का और १२ वें वर्ष वैश्यबालक का यज्ञोपवीत होना चाहिये। परन्तु उपनयन इससे दुगनी आयु तक भी हो सकता है। यदि फिर भी न हो तो पतित समझा जाए। इसी प्रकार विशेष दशा में ब्राह्मण बालक का पांचवें वर्ष में, क्षत्रिय का छठे वर्ष में और वैश्य का आठवें वर्ष में भी यह संस्कार हो सकता है। परन्तु यह दोनों अवधियाँ असामान्य हैं। साधारण अवधि ८,११ और १२ वर्ष की है।

यज्ञोपवीत की तीन तारें होती हैं। गुरु हवनमन्त्रों आदि की सहायता से व्रतादि रखवा कर इसे इस प्रकार पहना देता है कि यह बाएं कन्धे पर पड़ा और दक्षिण पक्ष में लटका रहता है। पूर्ण विधि संस्कारविधि में देखें।

प्रश्न—यज्ञोपवीत की तीन तारें क्यों होती हैं?

उत्तर—यदि चार वा पांच होती तो आप पूछते कि चार वा पांच क्यों हैं। कोई न कोई संख्या तो होनी ही थी। तो भी तीन तारों के साथ कुछ भाव सम्बद्ध हैं। यथा गुरुमन्त्र (गायत्री) जिसका उपदेश गुरु करता है उसमें तीन व्याहृतियां भूः भुवः स्वः हैं। गायत्री मन्त्र के पाद भी तीन हैं। जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम (ओं) है वह भी तीन अक्षरों से बना है। अर्थात् अ, उ, और म् से बना है।

प्रश्न—अब तो पुरानी मर्यादा नहीं रही, अब क्यों यज्ञोपवीत पहना जाए?

उत्तर—यज्ञोपवीत को हम उन (Associations) के कारण पहनते हैं जो इसके साथ लगे हुए हैं। यह हमारे पूर्वजों की तपस्या का चिन्ह है। इससे हमें यह स्मरण रहता है कि हम एक विशेष सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमें अपना आचरण उन व्रतों के अनुकूल बनाना चाहिये जिनको लेकर हमारे पूर्वज इसको धारण किया करते थे। इसका धारण करना हमें उन लाखों पूर्वजों का स्मरण भी कराता है

जिन्होंने आर्य धर्म की रक्षा के लिये अपने सिर दे दिये परन्तु जीते जी यज्ञोपवीत को शरीर से उतरने नहीं दिया। सिक्ख लोग मञ्जी साहब, चोला साहब और सच्चा सौदा आदि की इतनी महिमा मानते हैं क्योंकि इनके साथ गुरु नानक देव की पवित्र जीवनी का सम्बन्ध है। मुसलमान दुलदुल निकालते हैं। ईसाई पादरी सलीब को गले में अथवा कमर में लटकाये रहते हैं—केवल इसलिये कि इसके साथ उनके एक महापुरुष का सम्बन्ध हैं। हमारे बड़े-बड़े राजे महाराजे और नवाब सरकार की दी हुई (G.C.S.I.) की चपरास को कितने चाव से धारण करते हैं। केवल इसी वास्ते कि एक मान अथवा अधिकार का चिह्न है। क्या हमें अपने धर्म, अपनी सभ्यता और अपने पूर्वजों की अतुल तपस्या और यज्ञमय जीवन पर इतनी श्रद्धा भी नहीं कि उनकी दी हुई चपरास को श्रद्धा से धारण करें और जो (Associations) इनके साथ लगे हैं उनको अपने जीवन में जागृत करने का प्रयत्न करें? यह कितने दुःख की बात है कि हम ईसाइयों अथवा मुसलमानों का तो वेशादि में अनुकरण करते हैं परन्तु चोटी यज्ञोपवीत आदि उतरवा कर अपनी आर्य मर्यादा को तोड़ते हैं। चूँकि दूसरे हमें अनादर की दृष्टि से देखते हैं इसलिये हमें भी अपना मान करते लज्जा आती है। हम अपने आपको हिन्दू अथवा आर्य कहने में संकोच करते हैं और हमें यह कहते हुए लज्जा नहीं आती कि हम तो हिन्दू नहीं। इस नीति से आशा की जाती है कि राजनैतिक एकता का भाव उत्पन्न हो जाएगा परन्तु यह याद रखना चाहिए कि कोई आप गिर कर दूसरों को उठा नहीं सकता। दूसरों को उन्नत करने के लिये स्वयं दृढ़ विश्वासी और अचल वृत्ति वाला होना चाहिये।

१२ **समावर्तन**—जब ब्रह्मचारी पूर्ण विद्याध्ययन करने के पश्चात् अपने माता-पिता के घर आता है उसे समावर्तन कहते हैं।

१३ **विवाह संस्कार**—विवाह सम्बन्धी बातों का पहले बहुत

कुछ चर्चा कर चुके हैं। पूर्ण विधि संस्कार विधि में देख लें। तो भी कुछ आवश्यक बातों का कथन यहां भी लाभकारी होगा :—

१ सबसे पहले वधू वर का स्वागत करती है जिससे प्रतीत होता है कि विवाह में उसका ही सबसे अधिक उत्तरदायित्व है।

२—जो वस्त्र वर वधू को देता है उनके सम्बन्ध में वधू को सम्बोधन करता हुआ कहता है जिन मेरे घर की स्त्रियों ने इस वस्त्र के सूत को काता है, ताना बाना किया, फैलाया और बुना है वह स्त्रियाँ बुढ़ापे तक तेरे लिये ऐसे वस्त्र तैयार करती रहें। इससे सिद्ध होता है कि पहले समृद्धिशाली घरों की स्त्रियां भी स्वयं सूत कातती, और कपड़ा बुना करती थी। मोल लेकर विदेशी कपड़े नहीं पहना करती थीं।

३—फिर वह प्रतिज्ञाएं हैं जो वर-वधू आपस में करते हैं। मुख्य बात यह है कि हम वाणी और कर्म से एक दूसरे के अनुकूल होंगे। पति कहता है तू घर की स्वामिनी होगी। मैं कोई काम, कोई खर्च तुझसे पूछे बिना नहीं करूंगा और पत्नी सदा आज्ञाकारिणी होने का वचन देती थी।

४—फिर फेरों की रस्म अदा की जाती है। जब तक यह न हो ले विवाह पूर्ण नहीं होता। इसमें वर और वधू अग्निकुण्ड के गिर्द बार-बार परिक्रमा करते हैं अर्थात् सभा और अग्निरूप परमात्मा को साक्षी करके अपनी प्रतिज्ञाओं के पालन का व्रत धारण करते हैं। इतना प्रभावशाली, सारगर्भित और उच्च भावों से परिपूर्ण विवाह संस्कार किसी भी अन्य जाति अथवा धर्म में दिखाई नहीं देता।

१४ **वानप्रस्थ**—जब गृहस्थी गृहस्थ छोड़कर शास्त्र प्रतिपादित नियमानुकूल वनों में जाकर जीवन व्यतीत करने लगता है तो इसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना कहते हैं। जो संस्कार इस समय किया जाता है इसे वानप्रस्थ संस्कार कहते हैं। इसका सविस्तार वर्णन वानप्रस्थ आश्रम में आएगा।

१५—संन्यास—संन्यास लेने के संस्कार को संन्यास कहा जाता है। इसका अधिक वर्णन संन्यास आश्रम के स्थान पर किया जायगा।

१६—अन्त्येष्टि—मृतक शरीर के दाह करने के संस्कार को अन्त्येष्टि संस्कार कहा जाता है। "भस्मान्तँ शरीरम्" अर्थात् शरीर का अन्त भस्म होता है।

प्रश्न – संन्यासियों को तो जलाना नहीं बल्कि दबाना लिखा है।

उत्तर – यह वेद विरुद्ध है। जैसा कि हमने ऊपर प्रमाण द्वारा बताया है संन्यासियों को भी जलाना ही चाहिए जैसा कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को जलाया गया था।

प्रश्न—तो यह गाड़ने की प्रथा क्यों पड़ी ?

उत्तर—ऐसा प्रतीत होता है कि अपने गुरुओं की महिमा बढ़ाने के लिये शिष्यों ने ऐसा कहना आरम्भ कर दिया कि हमारे गुरु समाधिस्थ हो गये हैं, मरे नहीं। इसलिये समाधि अवस्था में दबाना चाहिए, जलाना नहीं चाहिये।

प्रश्न—जलाने की रसम बड़ी दुःखदायी है। अपने सम्बन्धियों के कोमल शरीरकी छातीपर इतने भारी २ लक्कड़ रखना और फिर अपने हाथ से इन्हें जला देना कितना हृदयविदारक होता है।

उत्तर—यह दुःख तो अज्ञान से उत्पन्न होता है। मृत शरीर तो मिट्टी होता है। इसे सुख दुःख का भान नहीं होता। क्या उस समय दुःख नहीं होता जब कबर में इन्हीं सम्बन्धियों को कीड़े अथवा Tower of silence (पारसियों के मुर्दाघर) में मुर्दे को गिद्ध खाते हैं। इसके अतिरिक्त मुर्दा जलाने के बहुत से लाभ हैं। इनको अनुभव करते हुए अब तो बड़े २ अंग्रेजों के भी मुर्दे जलाए जाते हैं।

प्रश्न—वह क्या लाभ हैं ?

उत्तर—१ – सबसे बड़ी बात तो यह है कि जलाने से जल-वायु खराब नहीं होने पाते, दबाने से तो वर्षा के जल के साथ मुर्दा शरीरों

के सड़े हुए अंश नीचे २ कुओं के जल में चले जाते हैं। वायु में भी दुर्गन्ध फैलती है।

२—दूसरे, दबे हुए मुर्दों से बीमारी के फैलने की सम्भावना होती है।

३—तीसरे, मुर्दों के गाड़ने के लिये बहुत सी भूमि की आवश्यकता होती है। यदि प्रत्येक मुर्दे के लिये नया स्थान बनाया जाए तो थोड़े ही समय में सारा संसार 'कबरिस्तान' बन जाए। होता यह है कि उसी स्थान पर पहले मुर्दे की हड्डियां बाहर फेंक कर नया मुर्दा गाड़ना पड़ता है। इस तरह तो ईसाइयों तथा मुसलमानों के उस सिद्धांत की भी रक्षा नहीं होती जिसके लिये वह मुर्दों को गाड़ते हैं।

प्रश्न—वह सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर—सिद्धांत यह है कि कयामत के दिन जिसे ईसाई Judgement Day कहते हैं असराफील करना Bugle फूंकेगा इस पर सारे मुर्दे कबरों से अपने पुराने भौतिक शरीरों सहित खड़े हो जाएंगे और इन्हें अपने कर्मानुकूल फल लेने के लिये खुदाबन्द करीम के सामने पेश किया जायगा—परन्तु जब इस तरह पुरानी कबरें खोदकर पुरानी हड्डियों को भी बाहर फेंक दिया जाए तो फिर यह शरीर खुदा के सामने हाजिर होने के लिये किस तरह इकट्ठा हो सकेगा।

जिस समय जगत् में वैदिक मर्यादा थी तो प्रायः सभी जगह मुर्दे जलाए जाते थे। जब से ईसाइयों ने Judgement Day का ख्याल लिया तब से मुर्दे गाड़ने लगे।

वानप्रस्थ आश्रम

हमने इतना कुछ केवल गृहस्थ आश्रम और इसके अन्तरात्मा पञ्चमहायज्ञों और संस्कारों के सम्बन्ध में लिखा है। अब थोड़ा सा वानप्रस्थ तथा संन्यास के सम्बन्ध में लिखना है।

इन दोनों का अर्थात् वानप्रस्थ तथा संन्यास का संस्कारों के

सम्बन्ध में संक्षिप्त कथन हो चुका है परन्तु चूंकि यह आश्रमों की श्रेणी में भी आते हैं इसलिये अब इनका अधिक वर्णन किया जाता है—

शतपथ ब्राह्मण का वचन है।

"ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।
गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥"

—शतपथ कांड १४

अर्थात् ममुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त कर के गृहस्थी हों, गृहस्थी होकर वानप्रस्थी बनें और वानप्रस्थी होकर संन्यासी हों।

मनु में लिखा है—

इस प्रकार स्नातक (पूर्ण विद्यायुक्त ब्रह्मचारी) विधिवत् गृहस्थाश्रम पूर्ण करके जितेन्द्रिय होकर नियमपूर्वक वन में निवास करे। जिस समय गृहस्थी के बाल सफेद होने लगें अथवा लड़के के सन्तान हो जाए तब वन में चला जाए। ग्राम का भोजन छोड़कर अपनी भार्या को पुत्रों के पास छोड़कर अथवा साथ लेकर वन को चला जाए। अग्निहोत्र की अग्नि साथ ले जाए और ग्राम से निकल कर जंगल के कन्द-मूल, फलफूल से ही पञ्चमहायज्ञ करे और अपना निर्वाह करे।

प्रश्न—वानप्रस्थी होने का क्या अभिप्राय है?

उत्तर—प्रथम तो यह कि गृहस्थ के भोगों को अपने जवान लड़कों के लिये छोड़ दे ताकि उन्हें यह शिकायत न हो कि बूढ़ा बैठा न हमें खाने देता है न पहनने। आज कल घरों में यही दुर्दशा दिखाई देती है। बूढ़े रोते हैं कि लड़कों को कुछ सूझता नहीं, घर लुटाये देते हैं। लड़के रोते हैं कि हमें खाने को नहीं मिलता। बात-बात पर झगड़ा होता है। वानप्रस्थ इस संकट को दूर करता है।

२—वानप्रस्थी के तीन कर्म मुख्य होते हैं। प्रथम, नाना प्रकार

के शारीरिक तप करके इन्द्रियनिग्रह करना ताकि संन्यास लेने का अधिकारी बन सके। दूसरे, उच्चकोटि के ग्रन्थों का पाठ करना। तीसरे, गृहस्थियों के जो बच्चे उस के पास आएं उनको पढ़ाना।

इन्हीं वानप्रस्थियों की बड़ी २ यूनिवर्सिटियां होती थीं जिनमें सहस्रों विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। कितना सुगम रास्ता अच्छी और मुफ्त (Free) विद्या देने का था—

यह आश्रम संन्यास की तय्यारी के लिये होता था। इन वानप्रस्थियों में से जो अति निपुण, धर्मशील, परोपकार तथा त्यागवृत्ति वाले ब्राह्मण होते थे—वे संन्यास ले लेते थे।

प्रश्न—तो क्या संन्यास सब द्विजों के लिये नहीं था ?

उत्तर—नहीं, संन्यास ग्रहण करना केवल ब्राह्मण का ही धर्म है। क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्णविद्वान् धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है उसी का नाम ब्राह्मण है। कारण यह है कि विना पूर्ण विद्या के, तथा धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के, संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसीलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं।

(सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ८१, २४ वां संस्करण)।

संन्यास

प्रश्न—यदि कोई सीधा ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले तो ठीक है या नहीं ?

उत्तर—ठीक है भी और नहीं भी।

प्रश्न—यह दोनों बातें कैसे ?

उत्तर—आमरण दुनियां के भोगों से उपराम रहना और अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण किये रखना बड़ा कठिन व्रत है। जो ऐसा दुस्साहस करता है उसके पतित होने की सम्भावना रहती है। इसलिये सीढ़ी के एक-एक डंडे पर चढ़कर ही ऊपर मकान तक पहुंचना ठीक है, नहीं

तो गिरने का भय रहता है। परन्तु यदि किसी में पूर्ण विद्या तपश्चर्या और सत्संग के कारण सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो गया तो वह सीधा भी संन्यास ले सकता है।

प्रश्न – संन्यास लेने की क्या विधि है ?

उत्तर—यह विधि बहुत लम्बी है। संस्कार विधि में देख लें। परन्तु मुख्य-मुख्य बातों का यहां भी उल्लेख कर दिया जाता है। जिस पुरुष ने संन्यास लेना हो उसको उचित है कि प्रसन्नचित्त होकर दुग्ध पान करके तीन दिन व्रत रक्खे, भूमि पर सोए और प्राणायाम करे तथा एकान्त देश में ओंकार का जाप करे। फिर विधि अनुसार होम करके ५ या ७ केशों को छोड़कर सारे सिर के बाल और दाढ़ी मूंछ उस्तरे से मुंडवा कर स्नान करे। फिर पुरुषसूक्त से १०८ बार अपने सिर पर अभिषेक करे और विधि अनुसार जप, मधुपर्क, प्राणायाम किया करे। फिर मौन करके शिखा के लिये जो पांच या सात केश रक्खे थे उनको एक-एक करके उखाड़े और यज्ञोपवीत उतार कर हाथ में ले, जल की अंजलि भर "ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा, ओं भूः स्वाहाः" इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि को जल में होम कर दे। उसके पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकाल कर काषाय वस्त्र की कौपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र और अंगोछा प्रीतिपूर्वक दे और दण्ड धारण कराके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करा दे।

प्रश्न—संन्यासी के क्या धर्म हैं ?

उत्तर—सबसे मुख्य धर्म तो वही है जिसका संन्यासी दीक्षा के समय व्रत लेता है। वह यह है कि पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा अर्थात् पुत्रादि सम्बन्धियों, धनादि तथा ऐश्वर्य और मान, कीर्ति आदि का मोह छोड़ दे।

प्रश्न – संन्यासी का भोजनादि किस प्रकार हो ?

उत्तर—चूंकि संन्यासी का धर्म है कि स्थाल-स्थान पर फिर कर

गृहस्थियों कौ सदुपदेश करे, इसलिये गृहस्थियों का भी धर्म है कि भोजन और वस्त्रादि से उनका सत्कार करें। ये ही तो सच्चे अतिथि हैं जिनका पहले वर्णन हो चुका है।

प्रश्न—संन्यासी को एक स्थान पर कितने दिन रहना चाहिये ?

उत्तर—जितनी जरूरत हो। चूंकि एक स्थान पर अधिक रहने से राग और द्वेष उत्पन्न होने की सम्भावना होती है इसलिये यथा-सम्भव थोड़ा ही ठहरे। इससे दूसरे स्थान पर रहने वाले गृहस्थियों को लाभ होगा और स्वयं संन्यासी भी अपने व्रत से गिरने नहीं पाएगा।

मोक्ष

प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा है कि उसको सुख मिले। न केवल इस जीवन में बल्कि मरने के पीछे आगामी जीवन में भी। ईसाई मुसलमान आदि जो दूसरा जन्म नहीं मानते, कहते हैं कि मरने के पीछे मनुष्यों को स्वर्ग अथवा नरक में जाना पड़ता है। नरक को इन्होंने एक भयंकर स्थान बना रक्खा है, ऐसा भयंकर कि इसकी कल्पना मात्र से हृदय कांपने लगता है। अभिप्रेत यह है कि इन यातनाओं से भयभीत होकर मनुष्य पापकर्मों से बचे। स्वर्ग का दृश्य भी इन्होंने इसी संसार जैसा बना रक्खा है। इसमें उन्हीं भोगों का प्रदर्शन है जिसके लिये मनको यहां लालसा होती है। सुन्दर स्त्रियों का मिलना, शराब की नहरों का चलना, सुनहरी फसलों का खेतों में लहलहाना आदि। परन्तु ये सब बनावटी बातें हैं। युक्ति के सामने एक क्षण भर भी नहीं ठहर सकतीं। हम इनका वर्णन पहले कर चुके हैं।

वैदिक धर्म का मोक्ष के सम्बन्ध में कुछ और ही ख्याल है। वैदिक धर्मावलम्बी यह मानते हैं कि जीवात्मा मरने के पीछे कर्मानुसार दूसरा जन्म लेता है। इसे दो प्रकार की योनियों से गुजरना होता है। एक कर्म योनि से दूसरा भाग योनि से। मनुष्य योनि कर्म योनि है क्योंकि इसमें ही मनुष्य को शुभ अशुभ कर्मों का विवेक

होता है और इस ज्ञान के कारण ही उस पर अपने कर्मों की जिम्मेदारी आती है। पशु योनि भोगयोनि है। इसमें जीवात्मा को अपने पहले कर्मों का फल भोगना पड़ता है। विश्राम मिलने के कारण इसमें वे संस्कार कम हो जाते हैं जो इनको कुमार्ग की ओर ले जा रहे थे। इस बात को साफ करने के लिये हम एक उदाहरण ले लेते हैं। हम एक बच्चे को चाकू दे देते हैं। वह कभी इससे छड़ी छीलने लगता है और कभी कुर्सी। हम उसको समझाते हैं। वह कुछ देर के लिये बन्द हो जाता है परन्तु फिर उसी तरह करने लगता है। अन्ततः हम उससे चाकू ले लेते हैं।

एक और लड़का है। उसके हाथ में छड़ी है। इसको वह बार-बार पृथ्वी पर मार कर शोर करता है। हम उसको मना करते हैं। वह कुछ देर बन्द हो जाता है परन्तु हाथों में कुसंस्कार (बुरी आदत) पड़ने के कारण वह फिर उसी तरह करने लगता है। हम इससे छड़ी ले लेते हैं। परन्तु जब हमें यह निश्चय हो जाता है कि इन दोनों ने अपनी गलती का अनुभव कर लिया है और फिर ऐसा नहीं करेंगे, तो यह चीजें अर्थात् चाकू और छड़ी इन्हें वापिस दे देते हैं। यही अवस्था कर्मयोनि तथा भोग योनि की है।

इस प्रकार हमारा जीवन इन जन्मों की एक लम्बी लड़ी है जिसका अन्त मोक्ष प्राप्ति पर होता है।

हम इसको एक साधारण उदाहरण से समझ सकते हैं। एक विशाल सुन्दर भवन से जिसमें सुख की सारी सामग्री पुष्कल रूप से भरी है एक रस्सा लटक रहा है। इस भवन में इस रस्से से चढ़कर प्रवेश करना होता है। रस्सा कुछ चिकना है। और इस तरह लटका हुआ है कि ऊपर चढ़ने के लिये किसी अन्य वस्तु का सहारा नहीं लिया जा सकता। मनुष्य का लक्ष्य ऊपर मकान तक पहुंचना है, परन्तु वह कभी ऊपर चढ़ता है कभी फिसलकर नीचे आ जाता है, फिर चढ़ता

हैं, रस्सा झूलता है—कभी इधर जाता है कभी उधर। परन्तु चढ़ने वाले की दृष्टि मकान की ओर लगी है। उसने वहां तक पहुंच कर रहना है। इस तरह हम कभी आगे बढ़ते हैं कभी पीछे हटते हैं, कभी धक्का खाकर एक तरफ चले जाते हैं कभी दूसरी तरफ। परन्तु हम उस बल और साहस के कारण जिसका संचार परमात्मा ने अपनी अपार दया से हमारे अन्दर कर रक्खा है हताश होकर इस जीवन यात्रा को छोड़ नहीं देते और कभी न कभी अपने लक्षित स्थान पर पहुंच ही जाते हैं।

गीता में कहा है कि हमारा शरीर वस्त्रों की तरह है। मृत्यु पर पुराने कपड़े उतार दिये जाते हैं और दूसरा जन्म मिलने पर नये कपड़े मिल जाते हैं। जब आत्मा को देह त्याग के पीछे नया देह धारण करने की जरूरत नहीं रहता-वही इसकी मोक्ष अवस्था है।

प्रश्न—क्या मरने पर जब यह शरीर भस्म हो जाती है केवल आत्मा ही रहता है या कोई अन्य पदार्थ भी बचता है?

उत्तर हम पहले बता आये हैं कि सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ रहता है। यह अति सूक्ष्म रूप में ज्ञान और कर्म इन्द्रियों का तथा अन्तःकरण (मन, चित्त, अहंकार और बुद्धि) का एक समुच्चय होता है। इसी से यह सुख का भोग करता है। चुनांचे गीता में भी कहा है कि यह आत्मा श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श शक्ति तथा रसना और सूंघने की शक्ति और मन के द्वारा विषयों का सेवन करता है❀। इसी प्रकार कठ उपनिषद् में भी कहा गया है कि जब शुद्ध मन युक्त पांच ज्ञानेन्द्रियां जीव के साथ रहती है और बुद्धि का निश्चय स्थिर

❀श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ गीता १५-९॥

अर्थ—यह जीवात्मा कान, आंख, त्वचा (चमड़ी), रसना (जिह्वा), नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों को भोगता है।

होता है उसको परमगति अर्थात् मोक्ष का मिलना कहते हैं×। यह सूक्ष्म शरीर क्षण-क्षण में हमरे विचारों और कर्मों के अनुसार बदलता रहता है और मृत्यु के समय जैसा इनका स्वरूप होता है उसके अनुकूल ही इसका आगामी जन्म होता है। आम कहावत है "अन्त मता सो गता"। गीता में भी कहा है कि मरने के समय जिस जिस भाव को एक प्राणी स्मरण करता है उसी किस्म के शरीर में उसका जन्म होता है। परन्तु जो मरते हुए मुझे (अर्थात् परमात्मा को) स्मरण करता हुआ प्राण त्याग करता हैं वह मुझे प्राप्त होता है। चुनांचे जब कोई मरने लगता है उस समय घर के बड़े बूढ़े कहते हैं, "राम का नाम लो।" परन्तु राम राम कह देना काफी नहीं होता। मृत्यु के समय सारे जीवन की वृत्तियों का उद्भव हो जाता है और उनसे ही प्रेरित हुआ मनुष्य बोलता है। इस समय यदि कोई सांसारिक बन्धनों से विमुक्त होकर परमात्मा की आराधना कर सके तो निस्सन्देह उसकी अच्छी गति होगी इसका निर्भर सूक्ष्म शरीर की अवस्था पर होता है।

पञ्चकोश

हमारा जीवात्मा पांच कोशों अर्थात् परदों से ढका हुआ है। इनकी पवित्रता पर मोक्ष का निर्भर है। वह पाँच कोश ये हैं :—

(१) अन्नमय कोश - स्थूल शरीर

यह त्वक् (चमड़ी) मांस, रुधिर, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र (वीर्य) के समुदाय से बना हुआ है। चूंकि इन सब चीजों की पुष्टि अन्न से होती है इसलिये इसे अन्नमय कोश कहा गया है। अन्न के लिये तीन बातों का देखना जरूरी है। हित, मित, ऋत—अर्थात्

×यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥
—कठ उपनिषद् छठी वल्ली, श्लोक १०

भोजन हितकर, शरीर के लिये लाभकारी हो। गीता में इस दृष्टि से भोजन के सात्विक, राजसिक, तामसिक तीन भेद किये हैं। हमें सदा सात्विक भोजन अर्थात् वह भोजन करना चाहिए जो बुद्धि को निर्मल, मन को शान्त और शरीर को पुष्ट करने वाला हो। मादक अथवा उत्तेजक चीजों का परित्याग करना चाहिये।

प्रकृति ने इस बात की पथ-प्रदर्शिता के लिये हमारे अन्दर ही प्रबन्ध किया हुआ है। जब भोजन की आवश्यकता होती है तो हम इसकी इच्छा जिसे भूख कहा जाता है अनुभव करने लगते हैं। उचित तो यह है कि जब इस इच्छा की पूर्ति हो जाय तो हम अधिक न खाएं। परन्तु हम प्रायः स्वाद के लिये खाते रहते हैं परन्तु थोड़ी ही देर के पीछे स्वाद भी जाता रहता है। यह प्रकृति की तरफ से दूसरी चेता-वनी होती हैं। परन्तु कभी २ हम खिलाने वालों के जोर देने पर और खाते रहते हैं और यही हमारे अनेक रोगों का कारण बन जाता है।

मित—अन्दाजे का, स्वाद के वश होकर भूख से अधिक नहीं खाना चाहिये बल्कि कुछ भूख रखकर खाना चाहिये। फारसी के विख्यात कवि शेखसादी से जब पूछा गया कि आप के विद्यार्थी क्यों कभी बीमार नहीं होते तो उन्होंने उत्तर दिया कि जब तक इन्हें पूर्ण रूप से भूख नहीं लगती यह खाने पर नहीं बैठते और अभी भूख कुछ बाकी होती है कि खाने से हाथ खैंच लेते हैं। दूसरी आवश्यक बात खाना चबा कर खाना है। इससे भोजन शीघ्र पच जाता है और थोड़े में तृप्ति हो जाती है। हममें यह एक बुरा स्वभाव है कि बहुत बड़ा कौर मुंह में डाल लेते हैं। परिणाम यह होता है कि इसका बहुत सा भाग अच्छी तरह चबाने के बिना ही अन्दर चला जाता है। मुंह से 'चप चप' की आवाज़ भी निकलती है जिसे भले आदमियों की संगत में बुरा समझा जाता है। किसी भी सभ्य समाज का आदमी ऐसा नहीं करता। यदि हम कौर छोटा लें तो

न मुंह खुलेगा, न 'चप चप' का शब्द होगा और न बिना चबाए इसका कोई भाग पेट में जाएगा।

ऋत –प्रकृति के अनुकूल और धर्म के अनुकूल भोजन होना चाहिये। प्रकृति समय समय पर खाद्य पदार्थ उत्पन्न करती है। इनका उपयोग तो किया ही जाता है परन्तु यह नहीं देखा जाता कि इनमें कौन सी चीज अपनी प्रकृति के अनुकूल और शरीर के लिये लाभकारी है। दूसरी बात जो अधिक आवश्यक है अन्न की पवित्रता है अर्थात् हमारा अन्न पाप की कमाई का न हो। मनु महाराज ने कहा है कि अन्न के दोष से विप्रों (अच्छे आदमियों) की मौत (इखलाकी) हो जाती है। पाप के अन्न से अपना ही अन्तःकरण मलिन नहीं होता बल्कि सन्तान भी पापात्मा उत्पन्न होती है। एक कवि ने क्या अच्छा कहा है :–

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयते नित्यं जायते तादृशी प्रजा॥

अर्थात्—दीपक जब जलता है तो अन्धकार को खा लेता है परन्तु उत्पन्न काजल करता है। इसी तरह हम जैसा अन्न खाते हैं वैसी ही सन्तान हमें मिलती है। इसलिये पवित्र अन्नमय कोष के लिये, शुद्ध, हितकर अन्न को भूख रख कर और चबा कर खाना जरूरी है।

(२) प्राणमय कोष पांच प्राणों का समुच्चय।

यह दूसरा अन्दर का परन्तु बाहर की वायु से सम्बन्ध रखने वाला कोश है। हम पहले प्राणायाम के प्रकरण में प्राणों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह आए हैं। वास्तव में प्राण ही जीवन का आधार हैं। यही भोजन को पका कर रस बनाते हैं, यही सारे शरीर में रक्त को पहुंचाते हैं, यही अन्दर के मल को बाहर निकालते हैं और बाहर की शुद्ध वायु को अन्दर ले जाकर स्थान-स्थान पर शरीर का मार्जन करते हैं। जब सारी इन्द्रियें थक कर अपना काम छोड़ देती हैं और गाढ़निद्रा के आश्रित होकर विश्राम ढूंढती हैं, प्राण उस समय भी

उसी तरह अपना काम करते रहते हैं। जब तक शरीर में प्राण रहते हैं यह जीवित रहता है, प्राणों के निकल जाने से सबका अन्त हो जाता है। इसीलिये "प्राण" जीवन का पर्याय वाचक बन गया है। जिन लोगों ने प्राणों को वश में किया है उनकी आयु लम्बी, मन शांत और बुद्धि निर्मल होती है, उनका जीवन भी प्राणों की तरह तपस्वी और निस्वार्थ होता है। प्राणों के सम्बन्ध में एक बड़ी शिक्षाप्रद कथा उपनिषदों में आती है। लिखा है कि एक समय पर देवताओं और असुरों में संग्राम हुआ। पहले देवताओं ने आंख को अपना सेनापति बनाया। परन्तु आंख ने जहाँ देवताओं का पथ प्रदर्शन किया वहां सुन्दर दृश्यों के उपभोग को केवल अपने लिये रख लिया। सेनापति के स्वार्थभाव से देवताओं की हार हो गई। फिर इन्होंने कान को अपना सेनापति बनाया, इसने भी मीठे रागों के आनन्द को अपने लिये रख लिया और फिर देवताओं की हार हुई। इसी तरह अन्य ज्ञानेन्द्रियों ने भी बर्ताव किया। आखिर इन्होंने प्राणों को अपना सेनापति बनाया। प्राणों ने निस्वार्थ भाव से देवताओं की सेवा की। वह दिन रात काम में लगा रहा। जो शरीर में गया, उसे रस बना कर देवताओं में बांट दिया और अपने लिये कुछ भी न रक्खा। इस तरह देवताओं की विजय हुई। चुनांचे जिन जातियों में उनके नेता प्राण रूप बनकर अन्तिम श्वास तक इनकी सेवा निःस्वार्थ भाव से करते हैं उनकी विजय होती है।

इन पाँचों प्राणों के समुदाय का नाम जिनका वर्णन ब्रह्मयज्ञ के सम्बन्ध में किया जा चुका है प्राणमय कोश कहा जाता है।

(३) मनोमय कोश—मन तथा पांच कर्मेन्द्रियां।

यह वह कोश है जहां मन कर्म और ज्ञानेन्द्रियों पर शासन करता है। गीता में कहा गया है कि मन बड़ा चंचल है और वायु की तरह काबू से बाहर है। परन्तु अभ्यास और वैराग्य से इस पर काबू पाया जा सकता है। जिस तरह एक अच्छा सारथी बागों से घोड़ों को चलाता

है, इसी तरह मन इन्द्रियों के द्वारा शरीर के रथ को चलाता है। मन संकल्प का उद्भव स्थान है। यहां से ही बुराई भलाई के स्रोत बहते हैं। मन के निग्रह से सारी इन्द्रियों का निग्रह स्वमेव हो जाता है। इसलिथे चूंकि अन्नमय कोश का अन्तरात्मा प्राणमय कोष और मन इन दोनों से पीछे सब पर शासन करता है, इसलिए इसका स्थान इन दोनों से ऊंचा है।

(४) विज्ञानमय कोश—अर्थात् बुद्धि, चित् और पांच ज्ञानेन्द्रियां।

इसका सम्बन्ध बुद्धि से है। मन के संकल्प विकल्प का आधार बुद्धि पर होता है। जैसा बुद्धि निश्चय करती है मन वैसा ही चिन्तन करता है। उपनिषद में शरीर की जो रथ से उपमा दी गई है उसमें बुद्धि को सारथी का पद दिया गया है, मन को बागों का, इन्द्रियों को घोड़ों का और घास पात को इन्द्रियों के विषयों का। इसी वास्ते मन के शिव संकल्पों वाले मन्त्रों की जिनका पहले उल्लेख हो चुका है इतनी महिमा नहीं जितनी बुद्धि विकासक गायत्री मन्त्र की है। बुद्धि की तीव्रता तथा निर्मलता से ही मनुष्य की महानता बढ़ती है। एक बुद्धि वाला बालक हाथी की गर्दन पर बैठकर इसे चला लेता है परन्तु निर्बुद्धि मनुष्य पशु बनकर दूसरों के वश में आ जाते हैं। बुद्धि से मनुष्य ने आग पानी और हवा पर विजय पा ली है। बुद्धिमान के सामने सारी प्रकृति हाथ जोड़े दासी की तरह खड़ी रहती है। बुद्धि से सत्यासत्य का निर्णय होकर मोक्ष सिद्धि होती है इसी बुद्धि की इतनी महिमा है। यह कोश मनोमय कोश का भी अन्तरात्मा है।

(५) आनन्दमय कोश जिसमें प्रीति, प्रसन्नता हो।

यह वह कोष है जहां जीवात्मा परमात्मा का साक्षात् करके परमानन्द को प्राप्त होता है।

इनकी स्वस्थ दशा पर मोक्ष का आधार है।

प्रश्न—इस अवस्था को प्राप्त करने के क्या साधन हैं?

उत्तर—इनका हम अभी कुछ पहले वर्णन कर चुके हैं। प्रथम,

मनुष्यों के चार वर्ण विभाग हैं। इनका आधार मनुष्यत्व के विकास पर है। इसी जन्म में अथवा अनेक जन्मों में मनुष्य उन्नति करता २ और वर्णों का यथाविधि पालन करता हुआ शूद्र पद से ब्राह्मण पद को प्राप्त होता है।

फिर आगे बढ़ने वाले मनुष्य को चारों आश्रमों के धर्म पालन कर के उन्नत होना होता है।

अतः मोक्ष तक पहुंचने के लिये इन्द्रियों को विषयों से रोका जाता है। बुद्धि के आधीन मन होता है। और बुद्धि आत्मा के आधीन होती हैं। फिर जब आत्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं बुद्धि से स्वतंत्र हूं और इन सब का स्वामी हूं उसे परमात्मा का साक्षात् और कैवल्य-प्राप्त हो जाता है।

इन सब ही उन्नत अवस्थाओं में अष्टांग योग का पालन करना होता है। जो निम्नलिखित हैं अर्थात् (१) यम, (२) नियम, (३) आसन (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। अब इनका संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

यम

यम पांच हैः—

अहिंसा (वैर त्याग)। मन वाणी कर्म से किसी का अहित न करना न सोचना।

सत्य—जो वस्तु जैसी है इसको वैसा ही जानना, वैसा ही इसका मनन करना, वैसा ही वाणी से इसका उच्चारण करना. और वैसे ही इस पर आचरण करना सत्य कहलाता है। मिथ्या ज्ञान से किसी अन्य बात को अन्य मान लेना और उसके लिये जान भी दे देना उसको सत्य नहीं बना सकता। सत्य, सत्य है, केवल हमारे मान लेने से असत्य सत्य नहीं हो सकता।

अस्तेय—(चोरी न करना) किसी की चीज को जिस पर हमारा स्वत्व नहीं है-ले लेना चोरी है। अपने काम को जो हमें सौंप दिया

गया है, यथा सामर्थ्य न करना और जी चुराना चोरी है। अनुचित साधनों से किसी को उसके अधिकार से वंचित रखना और स्वयं इसे लेने की चेष्टा करना चोरी हैं। अतः चोरी के भी अनेक रूप हैं।

ब्रह्मचर्य—इसका पूर्ण रूप से वर्णन पहले किया जा चुका है।

अपरिग्रह—त्याग, लालच न करना।

नियम

नियम भी पांच हैं।

शौच—स्नानादि से शरीर की और सत्य व्रतों से मन की पवित्रता करना।

सन्तोष—फल की इच्छा त्याग करके पूरे जोर से कर्मों के करने के पश्चात् जो फल मिले उसमें प्रसन्नता मानना तथा अपने से अधिक दुःखियों को देखकर मन को सान्त्वना देना।

तपः द्वन्द्वों अर्थात् गरमी सरदी, दुःख सुख, संयोग वियोग, हानि लाभ, जीवन मरण, जीतहार, यश अपयश को समान रूप से सहारना तथा सत्याचरण, ब्रह्मचर्य, शुद्ध अन्न का सेवन आदि।

स्वाध्याय—वेदादि सत्य शास्त्रों का पाठ करना। तथा ओ३म् और गायत्री का जाप करना। इसका सविस्तार वर्णन पहले हो चुका है।

ईश्वर प्रणिधान—सारे कर्मों को ईश्वर-अर्पण करके फल की इच्छा छोड़ देना। तथा ईश्वर भक्ति विशेष से आत्मा को अर्पित रखना।

यम नियमों तथा प्राणायाम के करने से मनुष्य के जिन्हें योगशास्त्र में पञ्च क्लेश कहा गया है दूर हो जाते हैं—यह पंच क्लेश यह हैं—

(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश। परन्तु इनमें अविद्या ही मुख्य है क्योंकि इसी से शेष सारे क्लेश उत्पन्न होते हैं।

१—**अविद्या का स्वरूप**—विद्या का अर्थ है जो चीज जैसी है उसको वैसा ही जानना। इससे उलट अविद्या है। इसलिये कहा भी है "अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिरविद्या।" अर्थात् अनित्य में नित्य का, अपवित्र में पवित्र का, दुःख में सुख का और अनात्मा (जड़) में आत्मा (चेतन) का मानना "अविद्या" है।

यथाः—अनित्य शरीर को अथवा सांसारिक सुख को सदा रहने वाला मानना। अपवित्र मनोवृत्तियों के होने पर भी इन्हें और अपने आपको पवित्र मानना, शराब आदि पीने अथवा विशेष भोगों को जो अन्त में दुःख देने वाले होते हैं सुख का हेतु मानना।

और पाषाणादि जड़ पदार्थों को चेतन स्वरूप परमात्मा, अथवा इन्द्रिय और चित्त को जो अनात्मा वस्तु हैं आत्मा समझना "अविद्या" है।

२—**अस्मिता का स्वरूप**—आत्मा और बुद्धि को एकसा मानना।

३—**राग**—जिससे सुख मिले उसमें आसक्ति का हो जाना। इस से मन बार-बार उसी सुखप्रद वस्तु में जाता है।

४—**द्वेष**—जिससे दुःख मिले उससे द्वेष अर्थात् प्रतिकूलता का हो जाना।

५—**अभिनिवेश**—मृत्यु का भय स्वभावतः यह सब प्राणियों में यहां तक कि विद्वानों भी में पाया जाता है।

आसन

आसन अष्टाङ्ग का तीसरा साधन है।

बैठने की रीति को आसन कहते हैं परन्तु हठयोग में बहुत से आसन आते हैं जिनमें सिर के बल खड़ा होना भी एक आसन कहाता है। इनमें अङ्गों को भिन्न-भिन्न रीति से झुकाया और मोड़ा जाता है। इनसे भूख प्यास आदि का अनुभव नहीं होता, ऐसा फल बताया जाता है। परन्तु यहां केवल प्राणायाम के लिये बैठने की रीति से

ही अभिप्राय है। यह यथा सुख होना चाहिये। पद्म आसन का आम रिवाज है।

प्राणायाम—इसका विस्तार पूर्वक पहले वर्णन हो चुका है।

प्रत्याहार—इन्द्रियों के निरोध का नाम प्रत्याहार है।

धारणा—किसी विशेष वस्तु पर मन टिकाना अर्थात् इसके गुणों का चिन्तन करना।

ध्यान—ध्येय में मग्न हो जाना।

समाधि—अपने स्वरूप में लीन होना।

प्रश्न—मुक्त जीव कहां रहता है?

उत्तर—हम पहले बता चुके हैं कि मुक्त जीव बिना किसी रुकावट के ज्ञान और आनन्द पूर्वक स्वतन्त्रता से विचरता है। इस समय सूक्ष्म शरीर इसके साथ होता है। इसकी सहायता से यह परमानन्द को भोगता है और अपनी इच्छा से जो चाहे कर भी सकता है।

प्रश्न—मुक्त अवस्था में तो जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।

उत्तर—यह कैसे हो सकता है। क्या ब्रह्म में कोई रिक्त स्थान था जिसमें जीव समा जाता है। दूसरे यदि लीन होना मान लिया जाय तो फिर मोक्ष का सुख क्या हुआ। इस तरह तो जीव का अभाव ही हो गया। वास्तव में जीव सूक्ष्म शरीर के साथ अपना अलग अस्तित्व रखता हुआ अव्याहत गति से ब्रह्म में पानी में मछली की तरह विचरता है।

प्रश्न—जीव मुक्ति पाने पर मुक्त रहता है अथवा फिर जन्म लेता है।

उत्तर—फिर जन्म लेता है। क्योंकि:—

१—परिमित कर्मों का फल अनन्त नहीं हो सकता।

२—यदि जीव वापिस न आये तो कभी न कभी सारे

जीवों की समाप्ति हो जाए।

३—जीवों में अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, तथा कर्म्म और साधन नहीं अतः वे अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिसके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता।

४--सुख भी कुछ समय के पश्चात् सुख नहीं रहता। सुख के अनुभव के लिए दुःख का होना भी आवश्यक है। इसलिये भी जीव को लौटना पड़ता है।

इस प्रकार एक बड़े लम्बे समय तक जीव मुक्त अवस्था में रहकर फिर जन्म लेता है। यही युक्तियुक्त है। इसी प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

प्रश्न—तो इस थोड़े से समय की मुक्ति के लिए इतना परिश्रम क्यों ?

उत्तर—प्रथम तो जो परिश्रम हम करते हैं उसका फल प्राणायामादि से मन की शान्ति में मिलता रहता है। योगी को वे सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं जिनका चिन्तन करने से ही बुद्धि चकित हो जाती है। साथ ही यह भी एक अनुभूत बात है कि सुख किसी वस्तु की प्राप्ति में इतना नहीं होता जितना इसके प्राप्त करने के प्रयत्न में होता है।❀

परन्तु क्या हम क्षणिक सुख के लिये बड़ा बड़ा परिश्रम नहीं करते। जान को भी जाखों में डाल देते हैं। हम जानते हैं कि अब भोजन करने पर फिर भूख लग जाएगी। तो क्या इस थोड़े से काल की तृप्ति को दृष्टि में

❀ अंग्रेजी में भी कहा है—Pleasure is in Pursuit, not in acquisition.

रखते हुए हम फिर भोजन की सामग्री का साधन नहीं करते? और मोक्ष काल तो है भी बहुत बड़ा।

प्रश्न—यह कितना है?

उत्तर—४३२०००० वर्ष की एक चतुर्युगी (चारों युग) की अवधि होती है।

अर्थात् कलियुग—४३२०००

द्वापर—८ ४०००—अर्थात् कलियुग से दुगना

त्रेता—१२९६०००—अर्थात् कलियुग से तीन गुणा

कृत वा सत्युग १७२८०००—अर्थात् कलियुग से चार गुणा

४३ ००००

दो हजार चतुर्युगियों का एक रात और एक दिन होता है। ऐसे तीस दिन रात का एक मास और बारह मास का एक वर्ष होता है। इतने १०० वर्षों का मोक्ष काल होता है। क्या इतने काल के असीम सुख के लिए प्रयत्न करना निरर्थक है?

वैदिक धर्म की विशेषताएं

वैदिक धर्म में कई एक विशेष बातें हैं जो इसको अन्य धर्मों पर प्रधानता देने वाली हैं। आज कल भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों में प्रेम भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से बहुत से महानुभाव यह कहते सुनाई देते हैं कि सारे ही धर्म्म एक ही रास्ता दिखाने वाले हैं। भिन्न-भिन्न नामों से सारे ही एक परमात्मा की पूजा का विधान करते है। हम अपनी बेसमझी से व्यर्थ आपस में लड़ते हैं। अतः सारे ही धर्म्म समान रूप से मान्य हैं।

हम इसके सम्बन्ध में पहले भी कुछ लिख चुके हैं। सारे धर्म्म एक ही रास्ते पर चलना बता रहे हैं अथवा एक ही जगदीश्वर का विधान करने वाले हैं यह बात तो ठीक नहीं। ऐसे भी धर्म्म हैं जो परमात्मा को मानते ही नहीं और इसका पूर्ण रूप से विरोध करते हैं। जैसे चारवाकादि जिन्हें साधारण भाषा में नास्तिक कहा जाता है। देवसमाजी भी इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे भी धर्म्म हैं जो परमात्मा के सम्बन्ध में उदासीन (Apnostic) भाव रखते हैं जैसे बौद्ध धर्म्म। फिर कैसे कहा जा सकता है कि सब धर्म्म समान रूप से परमात्मा को पूजा सिखाते हैं।

सब धर्म्मों के सिद्धान्त भी एक नहीं। जहां जैन और बौद्ध जीव रक्षा और अहिंसा को परम धर्म्म मानते हैं वहां मुसलमान कुरबानी करना अपना एक मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं। जहां ईसाई धर्म्म किसी अवस्था में भी एक समय में एक से अधिक धर्म्मपत्नी रखने की आज्ञा नहीं देता, वहां मुसलमानों में शरीयत के अनुकूल चार तक बीवियां रक्खी जा सकती हैं। इसी प्रकार और भी बहुत सी बातें हैं। इसलिये यह भी ठीक नहीं कि सारे धर्म्म एक ही प्रकार का आचरण सिखाते हैं।

प्रश्न   परन्तु, बहुत सी बातें जैसे सच बोलना, दूसरों पर दया करना, चोरी या व्यभिचार न करना आदि २ ऐसी बातें हैं जिन्हें सब ही धर्म्म अच्छा कहते हैं और जो सब में ही

पाई जाती हैं।

उत्तर—प्रथम तो यह भी ठीक नहीं कि सारे धर्मावलम्बी इन बातोंको जिनका आपने वर्णन किया एक जैसा ठीक मानते हैं। परन्तु केवल इतनी ही समानता से तो सारे धर्म सच्चे नहीं हो सकते; और भी बहुत सी बातें हैं जो एक धर्म को दूसरे पर विशेष करके वैदिक धर्म को अन्य धर्मों पर प्रधानता देने वाली हो सकती हैं। परन्तु यदि वैदिक धर्म में आपकी कही हुई सारी बातें भी हों और बहुत सी ऐसी और भी बातें हों जो अन्य धर्म्मों में नहीं मिलतीं तब तो यह मानना पड़ेगा कि वैदिक धर्म के होते हुए किसी अन्य धर्म को ग्रहण करने की जरूरत नहीं रहती। एक रुपये को छोड़ कर दो आने अथवा चार आने लेना कौन स्वीकार करेगा ? परन्तु हमारा तो यह पक्ष है कि जो सचाईयां अन्य धर्मों में भी पाई जाती हैं वह इन धर्मों में वैदिक धर्म से ही प्रतिबिम्ब रूप से गई हैं, इसीलिये आज यह अपने शुद्ध रूप में वहां दिखाई नहीं देतीं।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—आप दया के भाव को ही ले लें—जर्मनी का विख्यात् फिलासफर नीशे दया के भाव को कायरों और गुलामों का भाव बताता है। वह तो "काटने" का अर्थात् पूर्ण निर्दयता का पक्षपाती है—वह तो—Cut, cut, cut का जाप करने वाला है। व्यभिचार में तो वाममार्गियों ने

अन्त कर दिया है, इसे धर्म का लक्षण बना दिया है। रही बात सत्य बोलने की, इसका बोलना भी प्रायः वहां तक ही आवश्यक समझा जाता है जहां तक यह स्वार्थ-सिद्धि में हानिकारक न हो।

प्रश्न— फिर वैदिक धर्म में कौन सी विशेषताएँ हैं जिनसे इस की अन्य धर्मों पर प्रधानता मानी जाय।

उत्तर—सुनो —पहली और मुख्य विशेषता तो यह है कि वेद विहित धर्म सृष्टि के आदि से चला आया है। अन्य सारे धर्म (सम्प्रदाय) आधुनिक कोई चार हजार वर्ष का और कोई दो हजार वर्ष का और डेढ़ हजार अथवा इस से भी कम समय की आयु वाला है।

प्रश्न—नवीन होने से इन धर्मों की असत्यता कैसे सिद्ध हो सकती है। क्या कोई पुस्तक केवल इस कारण से कि यह आज लिखी गई है असत्य समझी जायगी ?

उत्तर—यह बात नहीं —यहां साधारण पुस्तकों की बहस नहीं बल्कि उन पुस्तकों की चर्चा है जिनको ईश्वरीय माना जाता है तथा जिन पर भिन्न-भिन्न धर्मों का आधार है।

प्रश्न—इनके नवीन होने में क्या आपत्ति आती है ?

उत्तर—देखो, आधुनिक होने से तो वह प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है जो ईश्वरीय ज्ञान से अभिप्रेत होता है - क्या दो अढ़ाई हजार वर्ष पहले संसार में सभ्य पुरुष नहीं रहते थे, क्या उनमें भी सदाचारी और ईश्वर भक्त नहीं थे ? आधु-

निक ग्रन्थों को ईश्वरीय वाणी मानने वाले कहते हैं कि जो उनकी पुस्तकों पर ईमान नहीं रखते वह दोजख में डाले जायेंगे। ऐसा क्यों होना चाहिये? जब परमात्मा ने यह ज्ञान ही पीछे दिया तो उनका क्या अपराध? पहले उनको अज्ञान में रखना फिर उनको दण्ड देना यह कहां का न्याय है? इस वास्ते ईश्वरीय वाणी का सृष्टि के आदि में होना जरूरी है। और यह बात सब ही मानते हैं कि वेद, कम से कम जैसा कि यूरोप के विद्वान् भी मानते हैं, ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय में सबसे पुरानी पुस्तक है। इसलिये वेद ही ईश्वरीय वाणी हो सकती है और वैदिक धर्म ही सनातन धर्म हो सकता है। यह इसकी सर्वोपरि विशेषता है।

प्रश्न—और अन्य कौनसी विशेषता है?

उत्तर—जो धर्म मनुष्यमात्र अथवा सारे संसार के लिये समान रूप से अभिप्रेत हो। उसमें देश, काल तथा किसी मनुष्य विशेष की प्रधानता नहीं होनी चाहिये—अन्य धर्मों में यह तीनों बातें ही मिलती हैं। इनमें नवीन होने से समय का बन्धन है, विशेष पुरुषों का इतिहास होने के कारण दूसरे देशों की अपेक्षा इन देशों को प्रधानता मिलती है, और ईश्वर के साथ पैगम्बरों को मिला देने से यह धर्म मनुष्यों पर बहुत हद तक निर्भर हो जाते हैं। वैदिक धर्म में किसी स्थान विशेष अथवा काल वा पुरुष विशेष का मानना या सहारा लेना आवश्यक नहीं है।

प्रश्न—परन्तु आर्य समाजी भी तो स्वामी दयानन्द को अपने धर्म में वही स्थान देते हैं जो अन्य धर्म अपने अपने पैगम्बरों को देते हैं।

उत्तर—नहीं ऐसा तो नहीं है। स्वामी दयानन्द को आर्य समाजी किसी नवीन धर्म का संस्थापक नहीं मानते बल्कि वैदिक धर्म के मर्मों को जनता तक पहुँचाने वाला एक प्रचारक समझते हैं।

प्रश्न—परन्तु स्वामी जी ने "सत्यार्थ प्रकाश" के अन्त में अपने ५१ मन्तव्यामन्तव्य दिये हैं। सब आर्य समाजी इन्हें मानते हैं। फिर आप कैसे कहते हैं कि स्वामी जी का वैदिक धर्म में वही स्थान नहीं जो अन्य पैगम्बरों का अपने अपने धर्म में है?

उत्तर—इसमें तो बड़ा अन्तर है! यदि अन्य धर्मों से उनके प्रवर्तकों को निकाल लिया जाय तो वे धर्म समूल गिर जाते हैं और उनका अस्तित्व ही नहीं रहता। परन्तु स्वामी दयानन्द को निकाल देने से वैदिक धर्म में तनिक भी त्रुटि नहीं आती। स्वामी जी ने स्वयं कहा है कि मैं वह धर्म और सिद्धान्त बता रहा हूँ जो वेद विहित हैं और जिनको ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्त सारे ऋषि-मुनि मानते आए हैं। जो-जो बातें मेरे लेख में वेदानुकूल हैं वही सत्य हैं—और यदि कहीं कोई बात वेद विरुद्ध मिले वह त्याज्य है। इसी वास्ते स्वामी जी ने आर्य समाज के चौथे नियम में

यह भी रख दिया है कि "सत्य के ग्रहण करने तथा असत्य के परित्याग में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।"

रही बात ५१ सिद्धान्तों की। यह तो स्वामी जी के अपने सिद्धान्त नहीं बल्कि वेद विहित सिद्धान्त हैं—इन सिद्धान्तों की जो सविस्तार व्याख्या स्वामी जी ने सत्यार्थ-प्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में की है उनको सर्वसाधारण के समझाने के लिये संक्षेप रूप से ५१ सिद्धान्तों में लिख दिया हैं "स्वमन्तव्यामन्तव्य" का अर्थ वह सिद्धान्त समझने चाहियें जिनको स्वामी जी ने वेदों से उद्धृत किया है।

हम स्वामी जी के विचारों को इस वास्ते मान्य समझते हैं चूँकि यह वेदानुकूल हैं। आधुनिक काल में वेदों के लोप हो जाने से जो वैदिक ज्ञान स्वामी जी ने साधारण हिन्दी भाषा में जनता तक पहुंचाया है हम उसके लिए उनके आभारी है और चूँकि वह वेदों के अद्वितीय पण्डित थे इसलिये उनके कथन पर श्रद्धा रखते हैं। परन्तु यदि हमें स्वामी जी के लेख में कोई बात वेद विरुद्ध मिले अथवा तजुरुबे से असत्य प्रतीत हो तो हमें उसके छोड़ देने का पूर्ण अधिकार है। यही स्वामी जी की भी हम लोगों के लिये आज्ञा है। हम वैदिक धर्मावलम्बी हैं "दयानन्दी" नहीं।

प्रश्न—कोई अन्य विशेषता हो तो बताइये।

उत्तर—सब ईश्वर विश्वासी यह मानते हैं और हम भी मानते

हैं कि इस सृष्टि का बनाने वाला परमात्मा है—साथ ही यह भी मानते हैं कि उन पुस्तकों में जिन्हें हम ईश्वरकृत कहते हैं ईश्वरका ज्ञान है। फिर इन दोनोंमें समानता होनी चाहिये। जैसे एक इञ्जीनियर एक ऐञ्जिन बनाता है साथ ही एक पुस्तक में उसके खोलने जोड़ने और चलाने की विधि भी लिख देता है, यदि इनमें समानता न हो तो पुस्तक सर्वथा निरर्थक होगी। इसलिये जिस पुस्तक में सृष्टि-क्रम के विरुद्ध बातें मिलें वह सृष्टिकर्ता जगदीश्वर की ओर से नहीं हो सकती। अन्य धर्मग्रन्थ मोजिजो (Miracles) से भरे पड़े हैं और मोजिजा अर्थात् (Miracles) का अर्थ है ऐसे काम जो "सृष्टिक्रम" के विरुद्ध हों।

प्रश्न—कोई और बात ?

उत्तर—बातें तो बहुत हैं परन्तु मुख्य सिद्धान्तरूप से यही हैं। और सिद्धान्तों का पहले कथन किया जा चुका है। हां एक बात और है जो वैदिक धर्म को अन्य सारे धर्मों पर उत्कृष्टता देने वाली है। यह है जीवन की समस्या। नास्तिक तो यह कहते हैं कि न जन्म से पहले कुछ था न मरने के पीछे कुछ रहेगा। उनका कहना है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात्—जब तक जियो सुख से जियो ऋण लेकर भी मौजें करो, क्योंकि मरने पर जब शरीर भस्म हो

जायगा फिर यह कहां से वापिस आएगा। यह लोग स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते हैं और किसी के सामने अपने आपको उत्तरदायी नहीं समझते।

परन्तु ईसाई मुसलमानादि जो नास्तिक नहीं वह भी प्रायः यही मानते हैं कि हमारे जीवन का आरंभ इस जन्म से ही होता है और मरने के पश्चात् हमें स्वर्ग में भेज दिया जायगा अथवा नरक में डाल दिया जायगा। यह कहते हैं हमको ईश्वर ने अपना जलाल दिखाने के लिये जैसा चाहा बना दिया। हमारी किस्मत का भी पहले से ही निर्माण कर दिया है। ऐसा मानकर समझ में नहीं आ सकता कि न्यायकारी और दयालु परमात्मा किस तरह एक आदमी को बिना कारण स्वर्ग में और दूसरे को नरक में डाल सकता है। क्योंकि उसने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से तो कुछ किया ही नहीं, जो किया अपने भाग्य निर्माण (किसी मत के नविशते)के अनुकूल किया जिसका पहले से ही जगदीश्वर ने निश्चय कर दिया था। यह सिद्धान्त भी उत्तरदायित्व का भाव हृदय में उत्पन्न नहीं करता बल्कि एक बेबसी और लाचारी का भाव उत्पन्न करता है।

परन्तु वैदिक धर्म हमें सिखाता है कि इससे पहले भी हमारे बहुत से जन्म हुए, आगे को भी होंगे—जो ज्ञान और अच्छे या बुरे संस्कार हमारे पहले जन्म के होते हैं हम उनको लेकर इस जन्म का आरम्भ करते हैं और जो

ज्ञान अथवा संस्कार इस जन्म के होंगे उनको लेकर मरने के पीछे दूसरा जन्म लेंगे। इस तरह हमें कभी अच्छा और कभी बुरा जन्म मिलता रहता है। परन्तु इस तरह हम कभी आगे बढ़ते हुए और कभी पीछे हटते हुए ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष की ओर बढ़ते रहते हैं और एक समय आता है जब हम ईश्वर के अत्यन्त निकटवर्ती होकर परमानन्द को प्राप्त हो जाते हैं। इस वास्ते हमारे लिये बेसबरी का कोई स्थान नहीं, हमें अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखनी चाहिये न कि केवल इस जीवन के सुखों पर। यही एक सिद्धांत है जो जीवन की जटिल समस्याओं को और जीवन की विषमता को भली भांति सुलझा सकता है। एक समय था, जब यूनान के सुकरातादि विद्वान् और रोम निवासी इस सिद्धान्त को मानते थे परन्तु इस समय यह वैदिक धर्मावलम्बियों की ही दायाद रह गया है और इसमें इसकी सर्वोत्कृष्टता है।

अन्य सिद्धांतों का पहले वर्णन किया जा चुका है यहां इनको दोहराना पुनरुक्ति दोष का भागी बनना होगा।

★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

— आर्य समाज का तीसरा नियम

★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★★

महत्वपूर्ण आर्ष पुस्तकें

॥ ओ३म ॥

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएं।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

सार्वदेशिक प्रेस, दरियागंज दिल्ली में मुद्रित तथा रघुनाथप्रसाद पाठक मुद्रक और प्रकाशक के लिये सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-१ से प्रकाशित।